# सामयिक निबन्ध

[ इंटर तथा डिग्री परीक्षार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी
एवं सामयिक विषयों पर नवीन दृष्टिकोण से
लिखे गये निबन्धों की पुस्तक ]

लेखक

प्रो० इन्द्र एम० ए० ( संस्कृत तथा राजनीतिशास्त्र )

प्रकाशक

हिन्दी भवन

जालन्धर और इलाहाबाद

प्रथम संस्करण ] १९५३ [ मूल्य २)

प्रकाशक—

इन्द्रचन्द्र नारंग

हिन्दी-भवन

३१२ रानी मंडी

इलाहाबाद ३

मुद्रक—

इन्द्रचन्द्र नारंग

हिन्दी-भवन मुद्रणालय

३१२ रानी मंडी

इलाहाबाद ३

# दो शब्द

देश के स्वतन्त्र होने के बाद वर्तमान समस्याओं पर नवीन दृष्टिकोण से विचार किया जाना आवश्यक है। भारत के नवयुवक तथा नवयुवतियों में सामयिक विषयों के सम्बन्ध में रचनात्मक विचारों का भरा जाना अत्यन्त अपेक्षित है। इसी उद्देश्य से 'सामयिक निबन्ध' पुस्तक का प्रणयन किया गया है। विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक जहाँ परीक्षा की आवश्यकता पूरी करने के लिए उपयोगी होगी, वहाँ अपने देश के सम्मुख उपस्थित अनेक प्रश्नों का विश्लेषण करने तथा उन पर विशद रूप से विचार करने के लिए भी उनको सहायक होगी। बड़े हो कर और देश के नागरिक बन कर, उन्हें इन प्रश्नों का हल ढूँढना होगा और राष्ट्र को उन्नति-पथ पर अग्रसर करने के लिए प्रयत्न करना होगा।

पुस्तक में प्रकाशित विचारों का उत्तरदायित्व लेखक का अपना ही है, प्रकाशक का नहीं। यत्र-तत्र भाषा तथा विचारों के संशोधन में, मैं उनकी सहायता का, आभारी हूँ। आगामी संस्करण में अन्य सामयिक विषयों का भी समावेश किया जाएगा।

सरस्वती कुटीर<br>पटेलनगर (वेस्ट)<br>न्यू देहली

इन्द्र

# निबंध-सूची

# सामयिक निबन्ध

## १. स्वतन्त्र भारत का संविधान

**भूमिका, संविधान में राष्ट्र का स्वरूप, संविधान की कुछ विशेषताएँ, संविधान की रूपरेखा, उपसंहार।**

देश के विभाजन से पूर्व ब्रिटिश गवर्नमेंट की ३ जून १६४६ की योजना के अनुसार समस्त भारतवर्ष के संविधान को तैयार करने के लिए एक अखिल भारतीय संविधान-सभा (Indian Constituent Assembly) की स्थापना हुई। इसमें प्रत्येक प्रान्त से प्रान्तीय विधान-सभाओं द्वारा देश के प्रमुख नेता, विद्वान् विचारक एवं संविधान शास्त्रवेत्ता प्रतिनिधि निर्वाचित हुए। १५ अगस्त १६४७ को, विभाजन स्वीकार करने के बाद, भारत तथा पाकिस्तान की पृथक्-पृथक् संविधान-सभाएँ स्थापित हुईं। भारतीय संविधान-सभा ने लगभग तीन वर्ष लगा कर, २४० बैठकों में, स्वतन्त्र भारत के संविधान को तैयार किया। २६ नवंबर १६४६ के दिन, सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्रप्रसाद ने तथा अन्य सब सदस्यों ने इस संविधान पर हस्ताक्षर किए। संविधान की कुल ३४५ धाराएँ हैं।

**भूमिका**

नवीन संविधान के अनुसार हमारे राष्ट्र को **'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न जनतन्त्रात्मक गण-राज्य (Sovereign Democratic Republic)** का स्वरूप दिया गया है। इसका अर्थ है कि हमारा राष्ट्र सर्वथा स्वाधीन होगा। इसके शासन-प्रबन्ध में किसी बाहरी शक्ति का हस्तक्षेप न होगा। इसे अपने सब विषयों में पूर्ण प्रभुता होगी। यह राष्ट्र 'जनतन्त्रात्मक' होगा—

**संविधान में राष्ट्र का स्वरूप**

अर्थात् इसमें जनतन्त्र-प्रणाली द्वारा शासन होगा । जनता के मत द्वारा प्रतिनिधि निर्वाचित होंगे—जो विधान-सभाओं में विधान बना कर देश के शासन का प्रबन्ध करेंगे । यह राष्ट्र 'गणराज्य' होगा, अर्थात् इसका सर्वोच्च अधिकारी राष्ट्रपति होगा, जो जनता द्वारा कुछ परिमित समय के लिए चुना जायगा ।

**संविधान की कुछ विशेषताएँ**

स्वतन्त्र भारत के संविधान की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित होंगीः—

**१. जनता का प्रभुत्व ( Sovereignty of the people )**—संविधान के अनुसार राष्ट्र के प्रत्येक २१ वर्ष के पुरुष वा स्त्री को मत-अधिकार दिया गया है । वे ही विधान-सभाओं में प्रतिनिधि भेज कर समस्त राष्ट्र का वस्तुतः शासन करेंगे । इस प्रकार जनता का शासन पर प्रभुत्व होगा ।

**२. धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र ( Secular State )**—हमारा राष्ट्र धर्म-निरपेक्ष होगा—अर्थात् वह किसी धर्म विशेष का पक्षपात न करेगा । यहाँ सब धर्मों के साथ समान व्यवहार होगा । उन्हें समान रूप से प्रचार आदि की स्वतन्त्रता प्राप्त होगी ।

**३. संशोधन की सुगमता ( Flexibility )**—हमारे संविधान में यदि कोई त्रुटि देखी जाएगी, उसे सुगमता से संसद् के प्रस्ताव द्वारा दूर किया जा सकेगा ।

**४. सङ्घ राष्ट्रपद्धति ( Federal Structure )**—राष्ट्र के राज्यों को अपने-अपने शासन-प्रबन्ध में स्वतन्त्रता होगी । वे कुछ अखिल देश-सम्बन्धी विषयों में ही केन्द्र के अधीन होंगे । अन्यथा वे स्वाधीन होंगे ।

**५. मूलाधिकार ( Fundamental Rights )**—हमारे संविधान की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि नागरिकों को कुछ मूलाधिकार दिए गए हैं । प्रत्येक नागरिक इनकी राष्ट्र से अपेक्षा कर सकता है । उच्चतम न्यायालय अथवा किसी अन्य न्यायालय में इनके सुरक्षित करने की माँग की जा सकती है । धार्मिक स्वतन्त्रता, भाषण-स्वतन्त्रता, सम्पत्ति-

स्वामित्व आदि कुछ ऐसे मूलाधिकार हैं।

६. प्रेरक सिद्धान्त ( Directive principles )—उपर्युक्त मूलाधिकारों को क्रियात्मक रूप देने के लिए भारत-राष्ट्र के कुछ प्रेरक सिद्धान्त स्वीकार किए गए हैं, जिनका पालन करना शासन का कर्तव्य होगा। उदाहरणार्थ, प्रत्येक नागरिक को जीविकोपार्जन का समान अवसर प्रदान करना, निःशुल्क बाधित शिक्षा का प्रबन्ध करना, धन के विषम विभाग को रोकना, श्रमिकों के उचित वेतन नियत करना, शराबखोरी बन्द करना इत्यादि हमारे राष्ट्र के प्रेरक सिद्धान्त होंगे।

७. संविधान की एक और विशेषता अस्पृश्यता को समाप्त कर देना है। इसे सर्वथा अवैध घोषित किया गया है और इसका आचरण करना दण्डनीय माना गया है।

८. संविधान द्वारा देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा लिपि देवनागरी स्वीकार की गई है।

**संविधान की रूपरेखा**

यह निम्न प्रकार से होगी:—

**१. केन्द्रीय शासन ( Union Government )**

(क) राष्ट्रपति ( President )—इसका निर्वाचन संसद् तथा राज्य की विधान-सभाओं द्वारा होगा। राष्ट्रपति की नियुक्ति ५ वर्ष के लिए होगी। दो बार से अधिक राष्ट्रपति का पुनः निर्वाचन न हो सकेगा। निर्वाचन के समय इसकी आयु कम से कम ३५ वर्ष की होगी। राष्ट्रपति को १००००) रु० प्रतिमास वेतन मिलेगा।

वह देश की समस्त सेनाओं का सेनाध्यक्ष होगा। उसकी आज्ञा के बिना सेनाओं को देश के बाहर न भेजा जा सकेगा। वही भारत-संघ के मन्त्रिमण्डल की, उच्चतम तथा राज्यों के न्यायालयों ( सुप्रीमकोर्ट तथा हाईकोर्टों ) के न्यायाधीशों तथा अन्य उच्च अधिकारियों की नियुक्ति कर सकेगा। न्यायालयों से प्राप्त दण्ड की मुक्ति भी राष्ट्रपति कर सकेगा। वह संसद् के अधिवेशनों को आवश्यकतानुसार बुला सकेगा अथवा

विसर्जित कर सकेगा। जब संसद् के अधिवेशन न हो रहे हों, राष्ट्रपति अध्यादेशों ( Ordinances ) को जारी कर सकेगा। किसी राज्य के शासन-प्रबन्ध के सर्वथा बिगड़ जाने पर उसे अपने हाथ में वह ले सकेगा। परन्तु इन सब अधिकारों का प्रयोग राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् के परामर्श पर ही कर सकेगा।

(ख) **मन्त्रि-परिषद्—( Council of Ministers )**—केन्द्रीय शासन का प्रबन्ध वस्तुतः मन्त्रिपरिषद् द्वारा होगा। संसद् की लोक-सभा में जिस राजनीतिक दल का बहुमत होगा, उसका नेता राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमन्त्री नियुक्त किया जाएगा। प्रधान मन्त्री के परामर्श पर मन्त्रिपरिषद् के अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति होगी। प्रत्येक मन्त्री शासन के एक या दो विभागों ( जैसे देश-रक्षा, विदेश-सम्बन्ध, शिक्षा, स्वास्थ्य वाणिज्य, श्रम, वित्त, यातायात आदि ) का अध्यक्ष होगा। मन्त्रिपरिषद् सम्मिलित रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी। उसके द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार होने पर, मन्त्रिपरिषद् को त्यागपत्र देना होगा।

(ग) **संसद् ( Parliament )**—केन्द्रीय शासन का मुख्यतम अंग संसद् होगी। इसके दो सदन होंगे। (१) लोकसभा ( House of People ) (२) राज्यपरिषद् ( Council of States )।

लोकसभा का निर्वाचन ५ वर्ष के लिए जनता के प्रत्येक २१ वर्ष तथा उससे बड़ी उमर के पुरुष तथा स्त्री के मतों द्वारा होगा। इसमें ५०० तक सदस्य होंगे। उसे केन्द्रशासन के सम्बन्ध में विधान बनाने का अधिकार होगा। लोकसभा द्वारा स्वीकार किया गया विधान संसद् के दूसरे सदन राज्यपरिषद् में विचारार्थ जाएगा। इस राज्यपरिषद् के २५० तक सदस्य होंगे, जो राज्य की विधान-सभाओं द्वारा निर्वाचित होंगे। वित्तसम्बन्धी विधेयक प्रथम सदन में ही उपस्थित हो सकेंगे। प्रत्येक विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद ही विधि अथवा कानून बन सकेगा।

**२. राज्य-शासन (State-Government)**—भारत में आसाम, बिहार, बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल—६ बड़े-बड़े राज्य हैं। इनके प्रधान अधिकारी का नाम राज्यपाल ( Governor ) होता है—जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है। वह राज्य की विधान-सभा में निर्वाचित प्रतिनिधियों के बहुसंख्यक दल के नेता को मुख्य मन्त्री नियुक्त करता है और उसके परामर्श पर अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। यही मन्त्रिपरिषद् राज्य के शासन का प्रबन्ध करती है। राज्य के शासन में सीधा हस्त-क्षेप करने का अधिकार राज्यपाल को न होगा। वह मन्त्रिपरिषद् को परामर्श मात्र दे सकता है।

कई राज्यों में विधानमण्डल के दो सदन होंगे—( १ ) विधान-सभा (Legislative Assembly) (२) विधान-परिषद् (Legislative Council)। विधान-सभा का निर्वाचन केन्द्रीय लोकसभा की तरह आम जनता द्वारा होगा। विधान-परिषद् का निर्वाचन स्थानीय जिला-बोर्डों, म्युनिसिपेलिटियों, राज्य के शिक्षकों एवं विधान सभा के सदस्यों द्वारा होगा। प्रत्येक विधेयक दोनों सदनों से हो कर राज्यपाल के हस्ताक्षर होने के बाद कानून वा विधि बन सकेगा। वित्तसम्बन्धी विधेयक प्रथम सदन में ही उपस्थित होगा।

कई राज्यों में विधान-परिषद् का निर्माण न होगा। वहाँ प्रथम सदन द्वारा ही विधान-रचना का सब कार्य किया जाएगा।

उपर्युक्त ६ बड़े राज्यों के अतिरिक्त भारत में ६ अन्य राज्य हैं जो पहले रियासतें कहलाते थे। लगभग ६०० ऐसी रियासतों को मिला कर केवल इन नौ राज्यों में परिणत कर दिया गया। राजस्थान, सौराष्ट्र, मध्यभारत आदि इन्हीं रियासतों के वर्तमान नवीन रूप हैं। इनका शासन भी उपर्युक्त राज्यों की तरह निर्वाचित विधानसभाओं तथा मन्त्रिपरिषदों द्वारा किया जाता है। केवल अन्तर इतना है कि यहाँ के प्रमुख अधिकारी का नाम राज्यपाल न हो कर राजप्रमुख होगा—

जो रियासतों के पिछले राजाओं के निर्वाचित प्रतिनिधि होंगे । इनका अधिकार मन्त्रिपरिषद् को केवल परामर्श देना होगा ।

उपर्युक्त दो प्रकार के राज्यों के अतिरिक्त, अजमेर, देहली, हिमाचल प्रदेश, कुडगु आदि तीसरी श्रेणी के राज्य होंगे, इनमें भी विधान-सभाओं की स्थापना होगी और मन्त्रि-परिषदों द्वारा शासन-प्रबन्ध होगा । इनके प्रमुख अधिकारी का नाम चीफ कमिश्नर अथवा लेफ्टीनेंट गवर्नर होगा, जिसकी नियुक्ति केन्द्रीय शासन द्वारा होगी ।

३. **न्यायशासन—( Judicial Administration )**—नवीन संविधान के अनुसार उच्चतम न्यायालय ( Supreme Court ) की स्थापना हो चुकी है । इसके तीन मुख्य कार्य हैं—(क) संविधान की व्याख्या सम्बन्धी विवादों का निर्णय करना । (ख) संघ तथा राज्यों के एवं राज्यों के परस्पर विवादों का निर्णय करना । (ग) राज्यों के उच्च न्यायालयों से आई दीवानी तथा फौजदारी अपीलों का सुनना ।

इस उच्चतम न्यायालय का एक प्रधान न्यायाधीश होगा और अन्य सात सहायक न्यायाधीश होंगे । इन सब की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा । राज्यों में उच्च न्यायालय ( High Courts ) होंगे जो ज़िला अदालतों से आई हुई दीवानी और फौजदारी अपीलों को सुनेगें और उनका निर्णय करेंगे । ज़िलों में फ़ौजदारी अभियोगों को सुनने के लिए मजिस्ट्रेटों की अदालतें होंगी और दीवानी मुकदमों के लिए सब जजों की अदालतें ।

स्वतन्त्र भारत के उपर्युक्त संविधान को तैयार करने के समय संसार के अन्य सब उन्नतिशील जनतन्त्रात्मक राष्ट्रों के संविधान का अध्ययन

**उपसंहार**

किया गया और उनकी अच्छी-अच्छी बातों का उसमें समावेश किया गया । यदि अमरीका से राष्ट्रपति नियुक्त करने की प्रथा का अनुकरण किया गया तो इग्लैंड से उत्तरदायी मन्त्रिपरिषद् के विचार को ग्रहण किया गया । संविधान के अनुसार लगभग १८ करोड़ भारतवासियों को मत का अधिकार प्राप्त हुआ है । संसार में किसी अन्य देश में इतनी बड़ी

संख्या को मताधिकार प्राप्त नहीं । इस दृष्टि से हमारा राष्ट्र सब से बड़ा जनतन्त्रात्मक राष्ट्र है । हमें अपने स्वतन्त्र भारत के संविधान की रक्षा करनी है और इस द्वारा स्थापित जनतन्त्र-प्रणाली को सफल बनाना है। प्रत्येक भारतीय नागरिक को इसे सफल बनाने का यत्न करना चाहिए।

---

## २. भारत का विभाजन और उसके परिणाम

**भूमिका, विभाजन के कारण, विभाजन के समय देश की अवस्था, विभाजन के परिणाम, उपसंहार**

बहुत प्राचीन काल से भारत की सीमाएँ उत्तर में हिमालय, दक्षिण में कुमारी अन्तरीप और पूर्व-पश्चिम में समुद्र रहे हैं। भारत के उत्तर भाग में सिन्धु और सरस्वती नदियों के किनारों पर वैदिक सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका प्रभाव सुदूर दक्षिण तक फैल गया और जिसके कारण अनेक भाषाओं, वेश-भूषाओं और धर्मों के होते हुए भी भारत, सांस्कृतिक एकता के सूत्र में ग्रथित हो गया और एक देश बन गया। उपर्युक्त भौगोलिक स्थिति ने भी इसे एक देश बने रहने में सहायता की।

**भूमिका**

इस देश के हजारों वर्षों के लंबे ऐतिहासिक काल में अनेक बाहर की जातियों ने भारत भूमि में प्रवेश किया। परन्तु वे उन छोटी जल-धाराओं के समान, जो बड़ी नदी में जा कर लुप्त हो जाती हैं, भारतीय सभ्यता के महान् प्रवाह में सम्मिलित हो गईं और अपने पृथक् अस्तित्व को न रख सकीं। यूनानी, पार्थियन, शक, यूची, हूण आदि जातियाँ यहाँ आ कर यहीं की हो गईं और भारत राष्ट्र का अङ्ग बन गईं।

परन्तु ईसा की नवम शताब्दी में एक ऐसी जाति ने इस देश में प्रवेश किया जो अपनी भाषा, सभ्यता, धर्म, वेशभूषा, रीति रिवाज आदि में यहाँ की जाति से सर्वथा भिन्न थी। वह जाति भारत में रहती हुई भी यहाँ की न बन सकी। अंग्रेजी राज्य में इस पृथकता को और अधिक

प्रोत्साहित किया गया। उसी का परिणाम देश का विभाजन हुआ।

देश के विभाजन का प्रथम कारण यही था कि मुसलमानों ने अपने को पृथक जाति रूप से रखा और अपनी भाषा, वेशभूषा, त्योहार तथा अन्य रीति-रिवाजों को यहाँ के जातीय संघटन में सम्मिलित नहीं होने दिया। अपनी धर्मान्धता के कारण उन्होंने इस देश को अपनी मातृभूमि एवं पुण्यभूमि कदापि नहीं माना। उन्होंने पृथक् जाति होने के नाते पृथक् राष्ट्र बनने की माँग को रखना प्रारम्भ किया। डा० मुहम्मद इकबाल ने सब से पहले भारतीय मुस्लिम लीग के प्रधान-पद से भाषण करते हुए पंजाब, उत्तरपश्चिम सीमाप्रान्त, सिन्ध और बलोचिस्तान को मिला कर एक नए राष्ट्र के बनाने की योजना उपस्थित की। १९३३ में प्रथम बार रहमत अली तथा अन्य मुस्लिम नेताओं ने लंडन गोलमेज परिषद् में 'पाकिस्तान' शब्द का प्रयोग किया।

**विभाजन के कारण**

दूसरा कारण अंग्रेजी शासकों की 'फूट डालो और राज्य करो' ( Divide and rule ) की नीति थी। १९०५ में इसी नीति का पालन करते हुए लार्ड मिंटो ने मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन ( Separate Electorate ) का अधिकार दे कर उन्हें हिन्दुओं से पृथक् कर दिया और उन्हें विभिन्न जाति बने रहने में प्रोत्साहित किया।

तीसरा कारण कांग्रेस के नेताओं का साम्प्रदयिकता के सम्मुख निरन्तर सिर झुकाना था। मुसलमानों की पृथक् निर्वाचन तथा प्रतिनिधित्व की माँग का यदि शुरू से विरोध किया जाता, और उन्हें अंग्रेजों की कूट-नीति का शिकार न बनने दिया जाता, तो उनका पृथक् जाति रूप से भारत में बढ़ते जाना रोका जा सकता था। इसके विरुद्ध मुसलमानों की जातीयता-विरोधी सब साम्प्रदायिक माँगों को कांग्रेस द्वारा स्वीकार किया गया और मुस्लिम लीग की शक्ति को बढ़ने दिया गया, जिसने 'पाकिस्तान' की माँग पूरा कराने के लिए अधिकाधिक दबाव डालना शुरू किया। इसी दबाव को डालने के लिए देश भर में साम्प्रदायिक उपद्रवों का

सूत्रपात किया गया। कलकत्ता, नोआखाली, मुलतान, रावलपिंडी आदि स्थानों पर हिन्दुओं को मारा गया, उनके स्थानों को जलाया गया, उनकी बहू बेटियों के साथ अमानुषिक व्यवहार किए गए और शान्ति से जीवन व्यतीत करना ही असम्भव बना दिया गया। देश में बढ़ती हुई अराजकता और रक्तपात ही विभाजन का निकटतम कारण था। कांग्रेस के नेताओं ने विषाद एवं अनिच्छापूर्वक इस विभाजन को स्वीकार किया। श्री जवाहरलाल ने आँखों में आँसू भर कर ये शब्द कहे थे—"भारत के विभाजन को हम किसी भी प्रकार स्वीकार करने को तैयार न थे और हम अपने प्राणों के अन्तिम श्वास तक इसका विरोध करने के लिए उद्यत रहे, परन्तु गत मासों में हमारे भाइयों पर जो अमानुषिक अत्याचार हुए हैं और देश में जो बलात्कार और रक्तपात का राक्षसीय वातावरण उत्पन्न हो गया है, उससे विवश हो हम अपने देश को खण्डित करने का प्रस्ताव स्वीकार कर रहे हैं।"

इस तरह उपर्युक्त चार कारणों से हमारी प्यारी मातृभूमि भारत का १५ अगस्त १९४७ को विभाजन हो ही गया।

**विभाजन के समय देश की अवस्था**

देश का विभाजन हुआ—परन्तु वह जिन अवस्थाओं में हुआ वह एक अत्यन्त दुःख का विषय है। यदि हमारे नेता लोग विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकार करके उसे धीरे-धीरे क्रियात्मक रूप देते, तो शायद ये दुःखद अवस्थाएँ उत्पन्न न होतीं। विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार करने के साथ ही देश का विभाजन शुरू कर देना, एक बहुत बड़ी भूल थी। धर्मान्ध मुसलमान जनता ने पश्चिमी पंजाब में साम्प्रदायिक उपद्रवों को और भी नारकीय स्वरूप दे दिया और अपने नए प्राप्त राष्ट्र के दीवानेपन में निरीह हिन्दू जनता पर जघन्यतम अत्याचार करने आरम्भ कर दिए। हिन्दू स्त्रियों पर बलात्कार किए गए। केवल एक शेखूपुरा नगर में सहस्रों हिन्दू पुरुषों और बालकों को पंक्ति में खड़ा कर के गोली का निशाना बनाया गया और हिन्दू युवतियों को मुसलमान बना कर उनको मुसल-

मानों से बलात् विवाहित कर दिया गया। इन अत्याचारों के परिणामस्वरूप लगभग तीन लाख हिन्दू और सिक्ख पश्चिमी पंजाब में ही मारे गए और शेष को जान बचा कर अपनी पैतृक सम्पत्ति—जमीन, मकान दुकान आदि—छोड़ कर पूर्वी पंजाब की तरफ भागना पड़ा। लगभग ५० लाख हिन्दू और सिक्ख शरणार्थी पश्चिमी पाकिस्तान से भारत में पहुँचे। इसी तरह इधर पूर्वी पंजाब में हजारों मुसलमान मारे गये और उन्हें पाकिस्तान की ओर भागना पड़ा। लगभग इतने ही हिन्दू पूर्वी पाकिस्तान से पश्चिमी बंगाल, बिहार, आसाम आदि भारत के राज्यों में पहुँचे। इधर से भी लगभग इतने ही मुसलमान पाकिस्तान में गये।

**विभाजन के परिणाम**

देश के विभाजन से कितने ही अच्छे बुरे परिणाम उत्पन्न हुए। अच्छा परिणाम तो यह हुआ कि हिन्दू मुसलमानों के पृथक् पृथक् हो जाने से, दोनों में निरन्तर रहने वाले झगड़े कम से कम भारत के सीमाप्रान्त—पंजाब में—समाप्त हो गये और दोनों राष्ट्रों को अपनी संस्कृति, भाषा आदि को विकसित करने की स्वतंत्रता प्राप्त हुई। यदि पाकिस्तान न बनता तो भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी घोषित हो सकती, इसमें संदेह है।

परन्तु विभाजन के दुष्परिणाम बहुत हुए, जिनकी यदि पहले कल्पना की जा सकती तो इस विभाजन को भारतीय नेता कदापि स्वीकार न करते। विभाजन ने केवल एक हिन्दू-मुस्लिम समस्या को हल किया, परन्तु अपने साथ अनेक ऐसी समस्याओं को खड़ा कर दिया, जिनका हल शायद सदियों तक न हो सकेगा।

**(क) राजनीतिक परिणाम**—विभाजन से दो ऐसे पड़ौसी राज्यों की उत्पत्ति हुई, जो परस्पर शान्ति वा प्रेम से पृथक् नहीं हुए, अपितु खून की नदियाँ बहा कर अलग हुए। ऐसे दो राष्ट्रों में मित्रता के सम्बन्ध स्थापित होने सर्वथा असम्भव हैं। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को एक रूप में समाप्त किया गया, परन्तु दूसरे रूप में, दो राष्ट्रों के स्तर पर, इस वैमनस्य को सदा के लिए प्रज्वलित कर दिया गया, जो न केवल इन दो राष्ट्रों में

अशान्ति का कारण बनेगा, परन्तु विश्व-शान्ति का भंग करने वाला एक भयानक साधन हो सकता है। काश्मीर-समस्या इसी राजनीतिक उलझन का परिणाम है।

भारत तथा पाकिस्तान में बढ़ती हुई परस्पर शत्रुता का परिणाम यह है कि दोनों देशों के सेनासम्बन्धी खर्च बढ़ते जा रहे हैं और कुल आमदनी का ७०, ८० प्रतिशत रुपया शिक्षा, स्वास्थ्य आदि जन-हित-कारी विषयों पर खर्च न हो कर समुद्री बेड़ों, हवाई जहाजों, बन्दूकों, तोपों मशीनगनों या बंम आदि के पैदा करने पर खर्च हो रहा है। ज्यों ज्यों दोनों देशों में परस्पर सन्देह अधिक बढ़ रहा है, त्यों त्यों यह सैनिक व्यय भी दोनों तरफ अधिक होता जा रहा है। विभाजन का यह राज-नीतिक परिणाम दोनों देशों के लिए घातक बन रहा है।

**(ख) आर्थिक परिणाम**—भारत एक समूचा देश था। प्रकृति ने ही उसे एक बनाया था। उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि इसका खंड हो ही न सकता था। आर्थिक दृष्टि से भारत का एक भाग दूसरे पर आश्रित था। विभाजन ने भारत भूमि के दो खण्ड करके दोनों को पङ्गु बना दिया है। पाकिस्तान में व्यवसायों की बहुत कमी हो गई है और भारत में खाद्य-पदार्थों की। पाकिस्तान में कपास और पटसन पैदा होता था, परंतु वहाँ उन्हें पक्के माल में परिणत करने के कारखाने न थे। भारत में ये कारखाने थे, परन्तु इन पदार्थों की पर्याप्त मात्रा में उत्पत्ति न थी।

पाकिस्तान में लगभग ३ लाख टन अनाज आवश्यकता से अधिक पैदा होता है—भारत में अनाज की कमी है। इसे अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए लगभग १५० करोड़ रुपये का अनाज बाहर के देशों से प्रतिवर्ष मँगाना पड़ता है। इस तरह दोनों देशों की आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। भारतवासी खाद्य पदार्थों के लिए पराश्रित हो गए; पाकिस्तान कोयले, कपड़े, पटसन के पक्के माल, लोहे आदि के लिए पराधीन हो गया।

विभाजन से उत्पन्न शरणार्थी-समस्या इसी आर्थिक-समस्या का ही

एक अंग है। लगभग एक करोड़ व्यक्ति अपने घरों से बे-घर हो गए। इनका फिर से बसना सुगम कार्य नहीं। दोनों देशों की सरकारें शरणार्थियों को फिर बसाने पर करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष खर्च कर रही हैं। परन्तु समस्या इतनी बड़ी है कि हल होती नज़र नहीं आती। दोनों तरफ अत्यन्त असन्तोष है और शासन के लिए यह प्रश्न अति कठिन होता जा रहा है। पाकिस्तान में हिन्दू लगभग ३५०० करोड़ रुपये की सम्पत्ति छोड़ कर आए हैं—उसके बदले में उन्हें भारत में कोई प्रतिकर (Compensation) नहीं दिया जा सका। पाकिस्तान की सरकार उस सम्पत्ति का मूल्याङ्कन करने में अभी तक आनाकानी कर रही है।

फिर पाकिस्तान ने अपने रुपए की दर ऊँची रख के भारत के लिए अपने साथ व्यापार के मार्ग को भी संकुचित कर लिया है। यह दोनों देशों के लिए अहितकर सिद्ध हो रहा है। इससे दोनों देशों की आर्थिक कठिनाइयाँ और भी अधिक हो रही हैं। वस्तुतः विभाजन से भारत और पाकिस्तान दोनों को भारी आर्थिक हानि हुई है। पृथक् राष्ट्र बनाने के हठ में इन आर्थिक दुष्परिणामों का विचार नहीं किया गया और दोनों देशों ने सदा के लिए अपने आर्थिक संघटन को निर्बल बना लिया है।

**(ग) नैतिक परिणाम**—विभाजन के नैतिक परिणाम भी बहुत बुरे हुए हैं। जैसे ऊपर लिखा जा चुका है, विभाजन के समय अमानुषिक अत्याचारों का दौर-दौरा बड़ी तीव्रता से चला। दोनों ही तरफ ऐसे अनेक बर्बर कार्य किए गए, जिनका उल्लेख करना ही लेखनी के लिए कठिन है। स्त्रियों के साथ जो बलात्कार हुए, वे दोनों देशों पर अमिट कलङ्क के समान हैं। पाशविकता और असभ्यता इससे अधिक सीमा तक न जा सकती थी। मनुष्य के पतन की यह पराकाष्ठा थी।

विभाजन के बाद दोनों तरफ लूटमार हुई, अराजकता फैल गई और नैतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। सहस्रों स्त्रियाँ पाप का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश की गईं। अनिच्छापूर्वक धर्म-परिवर्तन किए गए और पाप और पुण्य की भावनाओं का सर्वथा अन्त हुआ। दोनों

देशों में परस्पर घृणा और शत्रुता के भाव और अधिक प्रबल हो उठे और मनुष्य से मनुष्यता के सम्बन्ध समाप्त हुए। विभाजन के इतने वर्षों बाद आज भी हमें ये नैतिक दुष्परिणाम दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

भारत और पाकिस्तान अब विभिन्न राष्ट्र बन ही चुके हैं। हमें इन दोनों देशों का फिर एक हो जाना असम्भव ही प्रतीत होता है। भूखे, नंगे रहने पर भी पाकिस्तान के लोग भारत में पुनः सम्मिलित होने की कभी इच्छा प्रकट न करेंगे। उनकी धर्मान्धता ही उनसे ऐसा काम कराने में बाधक होगी। अतः भारत को यह भूल जाना ही हितकर है कि पाकिस्तान कभी उसका अङ्ग था। भारत को अब स्वतन्त्र रूप से अपनी आर्थिक व्यवस्था को पुनः सगठित करना है। उसे अब अपने लिए सब आवश्यक पदार्थों की उत्पत्ति स्वयं करनी है। विशेषतया खाद्य पदार्थों के विषय में उसे आत्म-निर्भर बनना है। विश्वयुद्ध के आरम्भ हो जाने पर, किसी अन्य देश से अनाज का आना असम्भव होगा, अतः पर्याप्त अनाज पैदा करने की व्यवस्था हमें शीघ्र ही करनी होगी। विभाजन के आर्थिक दुष्परिणामों पर अविलम्ब विजय प्राप्त करना होगा और देश को आत्म-निर्भर बना कर सब आवश्यक पदार्थों को स्वयं उत्पन्न करना होगा। इसी में राष्ट्र का कल्याण है।

उपसंहार

---

## ३. शरणार्थी समस्या

### भूमिका, समस्या का स्वरूप, समस्या का हल, भारत-सरकार के प्रयत्न, उपसंहार

भारत का विभाजन शान्तिपूर्वक नहीं हुआ। विभाजन की घोषणा के साथ ही पाकिस्तान की जनता में हिन्दुओं के प्रति शत्रुता का ज्वालामुखी फूट पड़ा और उन पर अमानुषिक अत्याचार आरम्भ हो गए। उनके मकानों को आग लगाई गई, उनकी

भूमिका

दुकानों को लूटा गया, उनकी बहू-बेटियों पर अत्याचार किए गए। पाकिस्तान में अपने जीवन तथा सम्मान को असुरक्षित जान कर उन्होंने अपनी पितृवंशागत सम्पत्तियों को छोड़ कर भारत में शरण लेना आवश्यक समझा। अनुमान किया जाता है कि पश्चिमी पजाब, सीमाप्रान्त और सिन्ध-बलोचिस्तान से लगभग ५० लाख हिन्दू-सिक्ख शरणार्थी भारत में पहुँचे। लगभग इतनी ही संख्या पूर्वी पाकिस्तान से भारत में आई। इस प्रकार एक करोड़ शरणार्थियों को भारत में आना पड़ा।

**समस्या का स्वरूप**

पूर्वी बंगाल से आने वाले शरणार्थी तो शान्ति-पूर्वक भारत में पहुँचे, परन्तु पश्चिमी पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियों को अत्यन्त निःसहाय अवस्था में अपना घर-बार छोड़ना पड़ा। वे मार्ग में लूटे गए, उनके जेवर, कपड़े तक छीन लिए गए। प्रायः अकिञ्चन हो कर वे इस तरफ पहुँचे। ये शरणार्थी दो प्रकार के थे। एक गाँवों से आने वाले और दूसरे नगरों से आने वाले। गाँवों से आए शरणार्थी अपनी ज़मीनों पर रहते थे, खेती करके अथवा अन्य गृह-व्यवसायों से अपनी जीविका का निर्वाह करते थे। उनमें लाखों ऐसे भी थे, जो केवल मेहनत मजदूरी से अपना पेट भरते थे। नगरों से आने वाले प्रायः व्यापार वा उद्योग-धन्धे करने वाले थे और एक अच्छी संख्या सरकारी वा दूसरी नौकरियाँ करके जीवन-निर्वाह करने वाली थी। उनके पास रहने को अच्छे मकान थे और वे सब आवश्यक सुख-सामग्री से परिपूर्ण थे। इतनी बड़ी जन-संख्या के पुनर्वास की समस्या वस्तुतः एक विकट समस्या थी।

ग्रामों से आए शरणार्थियों को जमीनों पर बसाए जाने की आवश्यकता थी—परन्तु मुसलमानों से छोड़ी ज़मीनें ही पर्याप्त न थी। छोटी-छोटी दुकानों पर काम करने वालों के लिए दुकानों का अभाव था। हाथ के काम करने वालों को पूँजी पास न रहने के कारण, बेकारी तथा भूख का सामना करना पड़ा। नगर से आने वाले शरणार्थियों को भी व्यापार-व्यवसाय के लिए उचित स्थान-साधन न मिलने के कारण एक

दम जीविका-हीन हो जाना पड़ा। नौकरी करने वालों को भी सरकारी नौकरियों की कमी के कारण भारत में पहुँच कर बेकार रह कर बेचैनी से समय काटना पड़ा।

समस्या वस्तुतः अति विकट थी। किसी भी देश की सरकार के लिए ऐसी विकट समस्या का हल करना अति कठिन था। विभाजन के बाद भारत तो एक नया राष्ट्र बना था। उसके सब साधन तो अंग्रेज शासकों द्वारा पहले ही चूसे जा चुके थे और फिर पाकिस्तान बन जाने से बची हुई सम्पत्ति का भी बटवारा कर दिया गया था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ ही इतनी बड़ी समस्या का सामना करना एक बड़े साहस का कार्य था। इस समस्या को हल करने के लिए आवश्यक था कि—

**समस्या का हल**

(क) लाखों घरों को एक दम बनाया जाए।

(ख) कई नगर बसाए जाएँ।

(ग) खाली पड़ी हुई जमीनों को खेती के योग्य बना कर कृषकों में बाँटा जाए।

(घ) सहस्रों कार्य-केन्द्र खोले जाएँ, जहाँ शरणार्थियों को उद्योग-धन्धों की शिक्षा दी जाए।

(ङ) व्यापारियों और व्यवसायियों को आर्थिक सहायता दे कर उन्हें अपने-अपने कार्यों में पुनः लग जाने के लिए समर्थ बनाया जाए।

(च) असहाय हो गये, विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति दे कर उन्हें शिक्षा जारी रखने का अवसर दिया जाए।

(छ) नौकरी करने वाले व्यक्तियों को, भारत में सरकारी तथा अन्य रिक्त स्थानों पर लगा कर उन्हें भी जीविकोपार्जन-योग्य बनाया जाए।

(ज) शरणार्थियों द्वारा पाकिस्तान में छोड़ी हुई सम्पत्ति के बदले में, उन्हें भारत में कुछ सम्पत्ति दिए जाने की व्यवस्था की जाए।

इन सब उपायों से शरणार्थी-समस्या का कुछ हल ढूँढा जा सकता था। भारत सरकार ने अपनी तरफ से पूरा प्रयत्न किया कि इस

समस्या को शीघ्रातिशीघ्र हल कर दिया जाए। उसने आए हुए शरणार्थियों का हृदय से स्वागत किया और उन्हें भारत की नागरिकता के वे ही अधिकार प्रदान किए, जो अन्य भारतवासियों को प्राप्त थे।

**भारत सरकार के प्रयत्न**

पूर्वी पंजाब की सरकार को विशेष रूप से इस समस्या का सामना करना पड़ा। उसने बड़ी दृढ़ता से इसका मुकाबला किया और निम्नलिखित साधनों का प्रयोग करके, इसे हल करने का यत्न किया:—

(क) गाँवों से आए हुए लोगों को मुसलमानों से छोड़ी हुई जमीनों पर बसाया गया। ये ज़मीनें अभी अस्थायी रूप से दी गईं—परन्तु उन्हें स्थायी बना देने का वचन दिया गया।

(ख) गाँवों से आए कारीगरों, घरेलू धन्धा करने वालों और श्रमिकों को बसाने के लिए स्थान-स्थान पर कार्य-केन्द्र खोले गए, जिसमें हर प्रकार के काम करने और उसके द्वारा जीविका कमाने की सुविधा की गई।

(ग) लगभग १२ छोटे-छोटे नगर बसाए गए, जिनमें हज़ारों मकान बना कर, कम कीमत पर शरणार्थियों को दिए गए।

(घ) कृषि को उन्नत करने के लिए तकावी कर्जे उदारता से दिए गए और सहकारी रूप से खेती करने के तरीकों को प्रोत्साहित किया गया। सरकार की तरफ से बीज बाँटने, हल-बैल आदि देने और ट्रैक्टरों द्वारा खेती कराने का भी प्रबन्ध किया गया।

(ङ) व्यापारियों तथा व्यवसाय करने वालों को बड़े-बड़े कर्जे दिए गए, जिनसे वे अपने छोड़े हुए कार्यों को पुनः प्रारम्भ कर सकें।

(च) विद्यार्थियों को भी शिक्षा जारी रखने के लिए कर्जे अथवा वजीफे दिए गए।

(छ) पश्चिमी पंजाब से आए सब सरकारी नौकरों को पूर्वी पंजाब के दफ्तरों में खपा लिया गया।

(ज) विभाजन के समय अपहृत स्त्रियों को भारत में लाने का प्रबन्ध किया गया और उनके लिए वनिता-आश्रम खोले गए। अनाथ बच्चों

को अनाथालयों में रखने तथा पालन-पोषण का इन्तज़ाम किया गया। निर्धन स्त्रियों को घर में जुराब बनाने, मेजपोश निकालने आदि का काम दिया गया और उनकी तैयार की हुई वस्तुओं के बेचने का आयोजन किया गया।

भारत सरकार ने पिछले पाँच वर्षों में शरणार्थियों के पुनर्वास पर लगभग २०० करोड़ रुपया व्यय किया है। इसमें वह रुपया भी सम्मिलित है, जो भिन्न-भिन्न राज्यों में शरणार्थियों को बसाने के लिए राज्य-सरकारों को कर्ज रूप में दिया गया है। पंजाब में चालू भाकरा तथा नांगल योजनाओं को पूर्ण करने के लिए कई करोड़ रुपया दिया जा चुका है। इन योजनाओं से, आशा की जाती है, शरणार्थियों की आर्थिक अवस्था सुधारने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। पंजाब की नई राजधानी चण्डीगढ़ को बनाने के लिए भी ५० लाख के दो कर्ज पंजाब गवर्नमेंट को दिए जा चुके हैं। इस राजधानी के बनने से लगभग एक लाख शरणार्थियों को पुनर्वास का अवसर प्राप्त होगा। विशेषतया नगरों से आए हुए बड़े-बड़े व्यापारियों और व्यवसायपतियों को इस राजधानी में अपने-अपने कारोबार फिर से स्थापित करने का अच्छा मौका मिलेगा।

पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों को पश्चिमी बंगाल, बिहार, एवं आसाम में बसाने का यत्न किया गया है। पश्चिमी बंगाल को भारत-सरकार की तरफ से इसी प्रयोजन के लिए पर्याप्त ऋण दिया गया है। परन्तु क्योंकि पूर्वी बंगाल से शरणार्थियों का आना अभी तक जारी है, अतः यह सब सहायता समस्या को हल करने में अशक्त हो रही है। सिन्ध के लोग बम्बई में और सीमाप्रान्त के लोग देहली तथा उत्तर प्रदेश में बस रहे हैं।

प्रश्न महान् है। शरणार्थी-समस्या उपर्युक्त सब प्रयत्नों के बाद भी ज्यों की त्यों विकट रूप में विद्यमान है। कांग्रेस के भूतपूर्व प्रधान श्री

**उपसंहार**

पुरुषोत्तदास टण्डन के शब्दों में, "शरणार्थी-समस्या, दी गई सहायता से कहीं बड़ी है। १९४७ से

अब तक एक करोड़ से ऊपर शरणार्थी पाकिस्तान से भारत पहुँच चुके हैं। वे लगभग ३५०० करोड़ की स्थिर सम्पत्ति छोड़ कर इधर आए हैं। गवर्नमेंट ने पाँच वर्षों में उन पर लगभग २०० करोड़ रुपया खर्च भी किया है। शरणार्थियों के भारी नुकसान तथा वर्तमान शोचनीय अवस्था को देखते हुए, यह सब सहायता तुच्छ सी प्रतीत होती है।"

शरणार्थी-समस्या को हल करने में अभी संभवतः कई बरस लग जायँगे।

---

# ४. हिन्दू कोड बिल

## भूमिका, बिल में प्रस्तावित मुख्य-मुख्य सुधार, बिल का विरोध, उपसंहार

हिन्दू समाज में सुधारों की आवश्यकता है—इससे सब कोई सहमत है। उसे कानून द्वारा करना उचित है या नहीं—इसी में मतभेद है। हिन्दू कोड बिल का उद्देश्य कानून की सहायता से इन सुधारों को करने का था। कई वर्षों तक यह बिल भारतीय संसद् के सम्मुख रहा है, परन्तु उसे स्वीकार करने में सदा बाधाएँ उपस्थित होती रही हैं। अब इस बिल को आवश्यक संशोधनों के साथ संभवतः नवीन संसद् के सम्मुख पुनः उपस्थित किया जाएगा।

**भूमिका**

संसार परिवर्तनशील है, वह कदापि स्थायी नहीं रहता। सामाजिक अवस्थाएँ भी युग-युग के साथ परिवर्तित होती रहती हैं। उनके साथ युगधर्म भी बदलते जाते हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न स्मृतियों, धर्मशास्त्रों अथवा कानूनों की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार शैशव अवस्था में बनाए गए कपड़े प्रौढ़ अवस्था में अनुकूल नहीं हो सकते, उनको बदलने या परिवर्तित करने की आवश्यकता रहती है, इसी प्रकार सामाजिक नियमों को विकास के

साथ-साथ बदलना आवश्यक होता है। जो जातियाँ प्राचीन रूढ़ियों में पड़ी रहती हैं और उन्हीं में पड़े रहने में अपना कल्याण मानती हैं— वे इस प्रगतिशील, अग्रसर रहने वाले संसार में पिछड़ जाती हैं। वे शक्तिशाली जीवित जातियों का शिकार बन जाती हैं और पराधीनता की बेड़ी में जकड़ी जाती हैं।

आज हम जिन परिवर्तित अवस्थाओं में पहुँच चुके हैं, वे भी अपेक्षा करती हैं कि अब इस शताब्दियों से चले आते हुए हिन्दू सामाजिक संघटन में आवश्यक परिवर्तन किए जाएँ। यदि हम ऐसा न करेंगे तो यह प्राचीन सामाजिक भवन जीर्ण-शीर्ण हो कर गिर पड़ेगा और वह संसार के इतिहास से लुप्त हो जाएगा। इसी दृष्टि से प्रस्तावित हिन्दू कोड बिल की आवश्यकता हुई।

**बिल में प्रस्तावित मुख्य-मुख्य सुधार**

हिन्दू कोड बिल में विवाह, तलाक, दत्तक-अधिकार, उत्तराधिकार, सम्पत्ति-वितरण, स्त्रीधन, संयुक्त-परिवार-प्रथा इत्यादि अनेक विषयों को सुलझाने का यत्न किया गया है। प्रस्तावित मुख्य-मुख्य सुधार निम्नलिखित हैं:—

१. हिन्दू समाज में प्रचलित बहु-विवाह-प्रथा को समाप्त करके एक-विवाह-पद्धति को प्रचलित करना। वर्तमान हिन्दू कानून के अनुसार प्रत्येक पुरुष एक से अधिक पत्नियों से विवाह कर सकता है। हिन्दू कोड बिल में पुरुषों के इस अधिकार को समाप्त कर दिया गया है।

२. विवाह-पद्धति को सरल बनाना। विवाह-संस्था के वर्तमान धार्मिक स्वरूप को ज्यों का त्यों रख कर, जो लोग सरल पद्धति से विवाह करना चाहें, उन्हें सिविल विवाह करने की स्वतन्त्रता दी गई है। अग्नि-साक्षिक सप्तपदी-विवाह के बाद भी उसे सिविल विवाह रूप में रजिस्टर कराया जा सकेगा।

३. निम्नलिखित असाधारण अवस्थाओं में पति वा पत्नी को विवाह-विच्छेद का अधिकार दिया गया है:—

(क) दम्पती में से किसी का विवाह के समय किसी अन्य स्त्री वा

पुरुष से सम्बन्ध सिद्ध होना।

(ख) दोनों में से किसी का विवाह के समय नपुंसक अथवा नक्लीक होना।

(ग) दोनों का सपिण्ड होना, जिनका विवाह शास्त्रों में निषिद्ध हो।

(घ) किसी पक्ष का पागल या विकृत-मस्तिष्क होना।

(ङ) किसी पक्ष का पाँच साल तक, असाध्य या गुप्त रोग से पीड़ित होना।

(च) पाँच वर्षों तक किसी पक्ष का दूसरे को छोड़ देना।

(छ) किसी पक्ष का हिन्दू न रहना।

इस प्रकार विवाह-विच्छेद के लिए किसी पक्ष द्वारा प्रार्थना-पत्र दिए जाने पर न्यायालय को उसे स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार दिया गया है। विवाह-विच्छेद के अतिरिक्त वर्तमान हिन्दू कानून में स्वीकृत किए गए परस्पर पृथक्त्व को भी लगभग उपर्युक्त अवस्थाओं में मान्य ठहराया गया है।

४. कन्याओं को पैतृक-सम्पत्ति में भाग देना। प्रस्तावित कोड बिल में बहनों को भाइयों का आधा हिस्सा उत्तराधिकार में देने का विधान है। वर्तमान हिन्दू कानून में कन्याओं को, दहेज के समय दिए जाने वाले स्त्री-धन के अतिरिक्त, पिता की सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं।

५. विधवाओं को अपने पति की सम्पत्ति पर पूर्णाधिकार दिया गया है। वर्तमान समय में उनका यह उत्तराधिकार बहुत सीमित है, जिसमें पति के अन्य पुरुष-सम्बन्धियों का अधिकार भी स्वीकृत किया जाता है।

**बिल का विरोध**

बिल का तीव्र विरोध किया गया है। साधारणतया दो आपत्तियाँ की गई हैं। प्रथम, यह कि नवीन संविधान के अनुसार भारत धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया गया है, अतः एक विशेष सम्प्रदाय के धार्मिक विषयों और विश्वासों में शासन का हस्तक्षेप करना अनुचित है। दूसरा यह कि इस कानून को बनाने वाले प्रायः वे लोग हैं, जो पाश्चात्य सभ्यता में रँगे हुए

हैं। वे प्राचीन हिन्दू मर्यादाओं से अपरिचित हैं, उन्हें हिन्दू परम्पराओं को विधान के बल से बदलने का कोई अधिकार नहीं।

विशेष रूप से उपर्युक्त सुधारों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि:—

१. बहु-विवाह का हिन्दू समाज से प्रायः लोप हो चुका है। इसके लिए कानून बनाने की आवश्यकता ही नहीं। सामाजिक दबाव ही बची हुई कुरीतियों को दूर कर देगा। अतः इस विषय में शासन को दखल देने की ज़रूरत नहीं।

२. वैदिक काल से हिन्दू विवाह एक धार्मिक अनुष्ठान रहा है। इसे कभी दो पक्षों के बीच समझौता मात्र ( Contract ) नहीं माना गया। हिन्दू जनता विवाह को कानून का विषय बनाने का सदा विरोध करेगी।

३. विवाह-विच्छेद वा तलाक को तो वह कभी स्वीकार न करेगी। इससे हिन्दू समाज का संघटन ही सर्वथा छिन्न-भिन्न हो जाएगा। समाज में इस अनुचित सुधार से दुराचार फैल जाएगा। स्त्रियाँ सर्वथा निःसहाय हो जाएँगी। पारिवारिक सम्बन्ध टूट जाएँगे। सन्तानें निराश्रय और अनाथ हो जाएँगी। विवाह-विच्छेद को स्वीकार करना हिन्दू संस्कृति पर कुठाराघात करना होगा।

४. कन्याओं को सम्पत्ति-अधिकार देने से भाई-बहनों का प्रेम नष्ट हो जाएगा। इससे सम्पत्ति का खण्ड-खण्ड में विभाजन हो जाएगा। इसका यह परिणाम भी हो सकता है कि निर्धन परिवार की लड़कियों के लिए वर ही न मिलें, क्योंकि हर कोई ऐसी लड़की से शादी करना चाहेगा, जिसे विरसे में काफी सम्पत्ति मिलने की सम्भावना हो।

५. विधवाओं का भी पति की सम्पत्ति में सीमित अधिकार याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने स्वीकार किया है। पुत्र होने की अवस्था में वह पिता का उत्तराधिकारी है और अपनी माता के संरक्षण का उत्तरदायी है। संयुक्त परिवार में रहते हुए विधवा का संरक्षण पति के अन्य सम्बन्धियों पर होता है और इसलिए उन्हीं का छोड़ी हुई सम्पत्ति को लेना अधिक न्याय-संगत है।

सामाजिक सुधारों से संगठन निर्बल नहीं होता, अपितु अधिक स्थायी बनता है। एक पुरानी इमारत की रक्षा समय-समय पर मरम्मतें कर देने से ही हो सकती है। अतः सुधारों का स्वागत किया जाना ही उचित है।

**उपसंहार**

विवाह, उत्तराधिकार आदि धर्म का विषय नहीं—ये तो सामाजिक विषय हैं। सामाजिक अवस्थाओं में समयानुकूल उन्नति न करने से राष्ट्र कभी उन्नत नहीं हो सकता। विशेषतया विवाह वह सामाजिक संस्था है, जिस पर किसी जाति का भविष्य निर्भर है। समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिए, इन सामाजिक विषयों में शासन का हस्तक्षेप करना तथा उनके लिए नियम बनाना उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। पहले भी कानून द्वारा सती-प्रथा आदि कुरीतियों को बन्द किया गया। कानून से ही अन्य बुराइयों को रोका जा सकता है। इसी आधार पर हिन्दू कोड बिल का प्रस्ताव हुआ था। प्रगतिशील लोगों ने जहाँ इसका स्वागत किया, वहाँ रूढ़िवादी लोगों की ओर से इसका विरोध भी काफी हुआ। विशेष कर दो धाराएँ—विवाह-विच्छेद और कन्याओं को पैतृक सम्पत्ति में भाग दिया जाना—ऐसी हैं, जिनके पक्ष और विपक्ष दोनों में बहुत कुछ कहा जा सकता है। विवाह-विच्छेद के अधिकार से—यद्यपि यह अधिकार बहुत ही सीमित अवस्थाओं में दिया गया है—जहाँ कुछ दुःखी परिवार मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर इसका दुरुपयोग भी पर्याप्त मात्रा में हो सकता है। भारत में, क्योंकि अधिकांश स्त्रियाँ अशिक्षित और अपना निर्वाह करने में सर्वथा असमर्थ हैं, अतः विच्छेद की हालत में उनका जीवन बड़ा ही कष्ट-पूर्ण हो जायगा। इसी प्रकार कन्याओं को पैतृक सम्पत्ति में अधिकार देना यद्यपि बिल्कुल न्याय-संगत प्रतीत होता है और कोई भी इस न्यायोचित माँग से इन्कार नहीं कर सकता, पर इसके वही दुष्परिणाम होने की सम्भावना है, जो दहेज की प्रथा के हैं। इस प्रकार विरोधी पक्ष की युक्तियाँ भी बिल्कुल निराधार नहीं हैं। गवर्नमेंट ने यद्यपि बिल को पास

करवाने का बड़ा यत्न किया पर समय की कमी और विरोधी पक्ष की रुकावटों के कारण, वह उसे पास न करवा सकी। अब गवर्नमेंट का विचार उसे नई संसद में खंड-खंड करके पास करवाने का है।

---

## ५. जमींदारी प्रथा का उन्मूलन

### भूमिका, जमींदारी प्रथा का प्रादुर्भाव, जमींदारी प्रथा की हानियाँ, जमींदारी-प्रथा-उन्मूलन के लाभ, उपसंहार

जमींदारी प्रथा से अभिप्राय उस प्रथा का है, जिसमें भूमि का स्वामित्व उस व्यक्ति के पास होता है, जो स्वयं भूमि पर कृषि नहीं करता, परन्तु किसानों द्वारा कृषि करा कर उपज का बहुत भाग स्वयं ले लेता है। जमींदार स्वयं प्रायः बड़े-बड़े नगरों में निवास करता है, कोई काम नहीं करता; परन्तु किसानों द्वारा पसीना बहा कर उत्पन्न की हुई फसलों पर उसका अधिकार होता है और उनकी आय के बड़े भाग पर उसका स्वामित्व होता है।

**भूमिका**

प्रागैतिहासिक काल में, जब राष्ट्र-संस्था की स्थापना हुई और शक्तिशाली पुरुषों ने अपने-अपने गणों में प्रभुत्व स्थापित किया, उन्होंने आसपास की भूमियों पर भी अपना स्वामित्व घोषित किया। ये शक्तिशाली पुरुष अपने-अपने गणों के 'राजा' वा सरदार कहलाने लगे और धीरे-धीरे उनके प्रभुत्व का विस्तार होने लगा। परस्पर गणों के युद्धों के बाद महान् गण-राज्यों की स्थापना हुई और बड़े-बड़े देशों पर उनका प्रभुत्व स्थापित हुआ। इन देशों की समस्त भूमि पर भी विजयी राजाओं का स्वामित्व घोषित किया गया।

**जमींदारी प्रथा का प्रादुर्भाव**

ये राजा सीधे तौर से इन विजित देशों तथा उनकी भूमियों का प्रबन्ध न कर सकते थे। उन्होंने इन भूमियों को अपने सहायक सरदारों

को दिया, जो राजा की तरफ़ से उनपर स्वामित्व रखते थे और आवश्यकता के समय राजा को धन-जन की सहायता देने की प्रतिज्ञा करते थे।

इंग्लैंड में इस प्रथा को फ्यूडलिज़्म ( Feudalism ) कहा जाता था। राजाओं से भूमि प्राप्त करके ये सरदार राजा की युद्ध के समय, सेना द्वारा सहायता करते थे, उसे धन भी देते थे और राजा की कन्या के विवाह आदि अवसर पर भेंट भी पहुँचाते थे। सरदार लोग राजा की शक्ति के आधार होते थे, और वस्तुतः इन्हीं द्वारा राज्य का संचालन होता था। उस समय राजा लोग अपनी स्थायी सेना नहीं रखते थे—इन्हीं सरदारों द्वारा रखी हुई सेनाओं की सहायता से शत्रुओं का मुकाबला करते थे। ये बड़े-बड़े सरदार इंग्लैंड में लार्ड, बैरन, वा मार्क्विस कहलाते थे। आज तक भी ये सरदार वहाँ चले आते हैं और उनके सब से बड़े पुत्रों को इन्हीं नामों से पुकारा जाता है।

भारत में भी प्राचीनतम काल से भूमिपतियों का वर्णन मिलता है, जो राजाओं द्वारा भूमि-अधिकार प्राप्त करते थे और राजाओं के परम सहायक होते थे। राजा लोग प्रसन्न हो कर अपनी प्रजा के व्यक्तियों को, विशेषतया युद्ध में वीरता दिखाने वाले सैनिकों को, जमीनें जागीर रूप में देते थे। मुगल-मराठा युग में तो वेतन न दे कर जागीरों द्वारा ही सिपाहियों, सिपहसालारों तथा अन्य राज्य के सहायकों को सन्तुष्ट रखा जाता था। अंग्रेजी राज्य में बंगाल में तो जमींदारियाँ नीलाम की गई। जिसने सब से ऊँची बोली दी, उसी को ज़मींदारी मिल गई। भारत के अधिकांश भाग विशेष कर उत्तर-प्रदेश में उन्हें जमींदारियाँ दी गई जिन्होंने अंग्रेजों और भारतीय राजाओं के युद्धों और १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में अंग्रेजों का साथ दिया था। बंगाल, उत्तरप्रदेश तथा बिहार में विशेष रूप से ऐसे बड़े-बड़े जमींदार पाये जाते हैं, जो हजारों गाँवों के मालिक हैं और जिनकी जमींदारी की आमदनी करोड़ों रुपया वार्षिक होती है। इन जमींदारों का आधार अंग्रेजों की राज्य शक्ति थी। इसलिए वे इनसे आवश्यकतानुसार धन-जन की सहायता प्राप्त करते थे और

गरीब जनता को अनुशासन में रख सकते थे। लार्ड कार्नवालिस ने तो बंगाल में इन्हें स्थायी बन्दोबस्त के लाभ दे कर और भी अधिक ऐश्वर्य-सम्पन्न तथा ब्रिटिश राज्य का संपोषक बना दिया।

इसी जमींदारी प्रथा का उन्मूलन स्वतन्त्र भारत में अभिप्रेत है। इसकी हानियाँ अत्यन्त स्पष्ट है। सर्वप्रथम, यह जमींदारी-प्रथा देश में

**ज़मीन्दारी प्रथा की हानियाँ**

धन-वैषम्य उत्पन्न करने का कारण बन रही है। कुछ व्यक्तियों के हाथ में उत्पत्ति के साधनों का रहना देश के अधिकतम कल्याण की दृष्टि से सर्वथा हानिकारक है। उत्पत्ति के साधनों पर समूचे राष्ट्र अथवा समाज का अधिकार होना चाहिए, न कि कुछ व्यक्तियों का, और विशेष कर उनका जो कि दूसरे के कठिन परिश्रम द्वारा उत्पादित सम्पत्ति के स्वामी बन जाएँ और दूसरों को निर्धन बनाने का हेतु बनें। ऐसे शोषक वर्ग को समाप्त करना ही नवीन समाज-रचना का उद्देश्य है। स्वतंत्र भारत में ऐसे शोषक वर्ग को सहन नहीं किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति को परिश्रम करके ही भोजन करने का अधिकार है। निठल्ले बैठ कर, दूसरों के गाढ़े पसीने की कमाई का उपभोग करना, सामाजिक सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध है।

जमींदारी प्रथा की दूसरी बड़ी हानि यह है कि देश की सम्पत्ति का इससे बड़ा विनाश होता है। जमींदार स्वयं जमीनों पर अनुपस्थित रहते हैं और उनको सुधारने का स्वयं प्रयत्न नहीं करते। उन्हें केवल अपने उपज के भाग से मतलब होता है और उसे वे किसानों को दबा कर भी ले लेते हैं। किसान भी उन जमीनों में अपना स्वामित्व न होने के कारण पूरे परिश्रम से काम नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पत्ति में कमी होती जाती है और देश को खाद्य-समस्या का सामना करना पड़ता है। किसानों को भूमिधर बनने के अधिकार दिये जाने पर ही ज़मीनों की उपज तथा इस तरह देश की सम्पत्ति को बढ़ाया जा सकता है।

अतः जमींदारी प्रथा का उन्मूलन करना नितान्त आवश्यक है। इसके उन्मूलन से धन-वैषम्य में कमी होगी और समाज में समता-

स्थापना में सहायता मिलेगी। सोवियट रूस में १६१८ की क्रान्ति के बाद समता-स्थापना के लिए सर्वप्रथम जमींदारी समाप्त करने का विधान किया गया। स्वतंत्र भारत में भी ऐसा ही होना आवश्यक है। रूस में तो सब ज़मीनों का बिना प्रतिकर (Compensation) दिए ही राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। भारतीय संविधान में ऐसा करने के लिए उचित साहस नहीं दिखाया गया, अपितु राष्ट्र द्वारा किसी वैयक्तिक सम्पत्ति को लेने के लिए प्रतिकर देने की व्यवस्था की गई है। संविधान की धारा सं० ३१ के अनुसार, बिना प्रतिकर की राशि निर्धारित किए जमींदारी का उन्मूलन नहीं किया जा सकेगा। परन्तु जमींदारी के बदले में धन-राशि देने से विषमता वैसी ही बनी रहेगी। यह ठीक है कि जमींदारों को पूर्ण प्रतिकर नहीं दिया जाएगा—परन्तु जितना भी दिया जाएगा, उससे विषमता का बना रहना स्वाभाविक है। उचित तो यही होगा कि रूस की तरह भारत में भी बिना किसी प्रतिकर को दिए, जमींदारी का उन्मूलन कर दिया जाए।

**जमींदारी प्रथा-उन्मूलन के लाभ**

विरोधियों का कथन है कि जब पूँजीवाद के किसी अन्य स्वरूप—व्यवसायपतियों, व्यापारियों, महाजनों आदि—के उन्मूलन की व्यवस्था संविधान में नहीं की गई और उसके विपरीत वैयक्तिक सम्पत्ति-उपार्जन की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की गई है, तो क्यों जमींदारी को ही उन्मूलन का शिकार बनाया जाए। इसका उत्तर यही है कि संविधान (धारा सं० ३६) में तो स्पष्ट विधान किया गया है कि "राज्य अपनी नीति का ऐसा संचालन करेगा, कि देश की आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले, जिससे धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रीकरण न हो।" इस विधान के अनुसार सब उत्पत्ति-साधनों का शनैः शनैः राष्ट्रीयकरण होना आवश्यक है और भूमि सब से बड़ा उत्पत्ति का साधन है। अतः उसमें वैयक्तिक स्वामित्व का समाप्त करना सर्वप्रथम आवश्यक है। स्वतन्त्र भारत की लोकतन्त्र सरकार बड़े-बड़े

व्यवसायों और व्यापारों के राष्ट्रीयकरण में भी सङ्कोच न करेगी।

जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन से सामाजिक न्याय की स्थापना होगी। शताब्दियों से पददलित कृषक को अपने पसीने की कमाई पर स्वामित्व प्राप्त होगा और निर्धनता के अभिशाप से उसका छुटकारा होगा। भारत का किसान ऋणग्रस्तता के गर्त में पड़ा हुआ, अभी तक अपना मस्तक ऊपर नहीं कर सकता और आर्थिक स्वाधीनता का आनन्द अनुभव नहीं कर सकता। यह तभी हो सकता है, जब उसे अपनी भूमि पर स्वत्व प्रदान किया जाए और अपने परिश्रम के फल पर उसे पूर्ण अधिकार दिया जाए। ऐसा हो जाने पर, वह भूमि पर आगे से भी अधिक परिश्रम करेगा और उपज को बढ़ाने में यत्नशील होगा। इससे देश की सम्पत्ति में भी अभिवृद्धि होगी।

प्रजातन्त्र-राज्यों में प्रजा का हित सर्वोच्च माना जाता है। एकतंत्र राज्यों में ही राजाओं तथा उन द्वारा स्थापित जागीरदारों और जमींदारों के हित के सम्मुख प्रजाहित का बलिदान किया जाता है। आज एकतंत्र का युग नहीं है। प्रजातंत्र में किसानों की अधिक संख्या होने के कारण, उन्हीं के हित को सम्पन्न करना, राष्ट्र के लिए परमावश्यक है, चाहे उससे मुट्ठी भर जमींदारों का उन्मूलन क्यों न करना पड़े।

स्वतन्त्र भारत में जमींदारी के उन्मूलन में देर न करनी चाहिए। इसी में देश का अधिकतम हित है। कृषक जनों की संख्या कृषि-प्रधान भारत में कई करोड़ है, और बड़े-बड़े जमींदार कुछ सहस्र ही हैं। इन कुछ सहस्र व्यक्तियों के लिए करोड़ों किसान श्रमिकों

**उपसंहार**

के साथ अन्याय कायम रखना, स्वाधीन भारत के लिए अनुचित होगा। इन पद-दलित, परिश्रमी, समाज की रीढ़ की हड्डी कहे जाने वाले, किसानों के साथ सामाजिक न्याय का शीघ्रातिशीघ्र किया जाना परमावश्यक है। तभी स्वतन्त्रता की सार्थकता मानी जा सकती है। किसानों की आर्थिक पराधीनता देश में असन्तोष एवं रक्तरंजित विप्लव का कारण बनेगी।

हमारे देश को ऐसी भीषण हिंसात्मक क्रान्ति से बचने के लिए अपने विधानों द्वारा ही पूर्ण सामाजिक न्याय की व्यवस्था करनी चाहिए और पूँजीवाद का साधारणतया और जमींदारी का विशेषतया उन्मूलन कर देना चाहिए।

---

## ६. भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्विभाजन

भूमिका, पुनर्विभाजन की आवश्यकता, पुनर्विभाजन के बाद भारत का स्वरूप, पुनर्विभाजन का विरोध, उपसंहार

**भूमिका**

राजनीति शास्त्र के अनुसार प्रत्येक सांस्कृतिक समुदाय ( Cultural group ) को अपनी संस्कृति के विकास के लिए, एक शासन द्वारा शासित होना वांछनीय होता है। भाषा संस्कृति का मुख्य अंग है। एक भाषाभाषी व्यक्तियों का प्रायः एक सांस्कृतिक समुदाय बनता है। अतः एक भाषा बोलने वालों को, एक शासन के अधीन होने से, अपनी संस्कृति के अनुसार शिक्षा का प्रबन्ध करने, सामाजिक नियम बनाने आदि में सुविधा प्राप्त होती है। सांस्कृतिक एकता से जातीय जीवन के विकास में सहायता होती है। भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वाले, एक जाति का अङ्ग होते हुए भी, जातीय एकता को सुदृढ़ नहीं बना सकते। इग्लैंड, फ्रांस, अमरीका, आदि प्रगतिशील देशों में भाषा की एकता के आधार पर जातीय जीवन को इतना उन्नत किया जा सका है।

रूस में अनेक भाषाभाषी सांस्कृतिक समुदाय हैं। उन्हें अपनी-अपनी राज्य-व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। अपनी भाषा एवं संस्कृति को विकसित करने का उन्हें पूर्ण अधिकार है। ताजिकिस्तान, उज़बेकिस्तान, जैसे मुस्लिम आबादी वाले राज्यों को अपनी मुस्लिम सभ्यता के अनुसार जीवन व्यतीत करने और नियम बनाने का स्वातन्त्र्य

है। परन्तु समस्त राष्ट्र की दृष्टि से रूसी भाषा का ज्ञान भी इन राज्यों में आवश्यक रूप से दिया जाता है। भाषा के आधार पर राज्यों का विभाजन रूस में सुन्दरता से कार्य कर रहा है।

अंग्रेज शासकों ने भारत के प्रांतों का विभाजन सांस्कृतिक समुदायों की दृष्टि से नहीं किया, अपितु केवल शासन की सुविधा की दृष्टि से

**भारत में राज्यों के पुनर्विभाजन की आवश्यकता**

किया। उनके बनाए, एक मद्रास प्रांत में तमिळ, तेलुगू, मलयाळम, कन्नड—इन चार भाषाओं के बोलने वाले चार विभिन्न सांस्कृतिक समुदाय रहते हैं, जो देर से अपनी-अपनी संस्कृति-अनुसार विभिन्न प्रान्तों की माँग करते आए हैं। बंबई में गुजराती तथा मराठी बोलने वाले, दो सुनिश्चित भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक समुदाय हैं, जिनको एक प्रांत में रखना, उनके अपने अपने सांस्कृतिक जीवन के विकास में बाधक बन रहा है।

इन्हीं कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजी राज्य-काल में ही कांग्रेस ने भाषा के आधार पर प्रांतों के पुनर्विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकार करके अपने कार्यों के लिए, महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र, कर्नाटक आदि एकभाषाभाषी प्रान्तों की १६२३ में ही रचना कर दी थी।

अंग्रेजी राज्य ने एक भाषा के आधार पर की गई माँग को सिन्ध और उड़ीसा प्रांत बना कर कुछ अंश तक पूरा किया। मुहम्मद अली जिना ने सिन्ध को बम्बई से पृथक् करने के लिए और मधुसूदन दास ने उड़ीसा को विहार से पृथक् करने के लिए सफल आन्दोलन किए।

भारत में स्वतन्त्रता स्थापित होने के बाद उपर्युक्त माँग को अधिक तीव्र रूप से उपस्थित किया जा रहा है। मद्रास में चारों भाषाओं के सांस्कृतिक समुदाय अपने-अपने लिए भिन्न-भिन्न चार राज्यों की स्थापना के लिए उद्विग्न हो रहे हैं। गुजरात और महाराष्ट्र भी बंबई के विशाल प्रांत में रहना पसन्द नहीं करते और शीघ्र ही अपने-अपने पृथक् शासन की व्यवस्था करना चाहते हैं। बंगला-भाषाभाषी भी आसाम तथा

बिहार से उन प्रदेशों को बंगाल में मिलाना चाहते हैं, जहाँ बँगला भाषा बोली जाती है। हाल ही में पंजाबी भाषा के आधार पर सिक्ख नेताओं ने पृथक् पंजाब राज्य बनाए जाने की माँग की है। कांग्रेस सरकार इन माँगों को ठुकरा नहीं सकती, क्योंकि सिद्धान्त रूप से प्रांतों के पुनर्विभाजन की आवश्यकता को कांग्रेस ने १६२३ से स्वीकार किया हुआ है।

**पुनर्विभाजन के बाद भारत का स्वरूप?**

जब भाषा के आधार पर पुनर्विभाजन कर दिया जाएगा, तो भारत का स्वरूप निम्नलिखित रूप से परिवर्तित हो जाएगा—ये राज्य नए बनेंगे—

(क) महाराष्ट्र—इसमें बम्बई, हैदराबाद, मध्यप्रदेश और बरार के मराठी बोलने वाले प्रदेश सम्मिलित होंगे।

(ख) आन्ध्र—इसमें मद्रास तथा हैदराबाद के तेलुगू बोलने वाले प्रदेश होंगे।

(ग) कर्नाटक—इसकी रचना बंबई, मद्रास, हैदराबाद तथा मैसूर के कन्नड भाषी प्रदेशों से होगी।

(घ) गुजरात—इसका निर्माण बंबई, बड़ोदा एवं सौराष्ट्र वा काठियावाड़ के गुजराती भाषा-भाषी प्रदेशों से होगा।

(ङ) केरल—इस में ट्रावंकोर, कोचीन तथा मलाबार के प्रदेश सम्मिलित होंगे।

(च) महाकोशल—इसे मध्यप्रदेश तथा विन्ध्यप्रदेश के हिन्दी बोलने वाले प्रदेशों से बनाया जाएगा।

इसके अतिरिक्त बिहार तथा आसाम के बँगला बोलने वाले प्रदेशों को बंगाल में सम्मिलित किया जाएगा। यदि सिक्ख नेताओं की माँग को स्वीकार किया गया, तो पंजाब के वर्तमान रूप में भी परिवर्तन होगा। इस प्रकार भारत का नया मानचित्र तैयार होगा, जिसमें भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्विभाजन होगा।

सिद्धान्त रूप में पुनर्विभाजन को स्वीकार करते हुए भी, काँग्रेस नेताओं द्वारा इसका विरोध किया जा रहा है। यह इस दृष्टि से है कि

अभी इन परिवर्तनों के लिए उचित समय नहीं आया। भारत और पाकिस्तान बन जाने के बाद, भारत के जातीय जीवन को एक बहुत बड़ा धक्का लगा है, जिसकी क्षति अभी पूरी नहीं हो रही, और पुनः विभाजन करके इस जातीय जीवन को अधिक निर्बल बना देना बुद्धिमत्तापूर्ण न होगा। प्रांतों के विभाजन में भी भिन्न-भिन्न समुदायों में परस्पर संघर्ष, वैमनस्य, तथा द्वेष उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है, जिससे एकता के स्थान पर अनेकता पैदा हो जाने का भय है।

**पुनर्विभाजन का विरोध**

भारतीय संविधान सभा में ८ नवम्बर १६४८ को, प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल ने भाषण देते हुए कहा था—"मुझे चिरकाल से ऐसा अनिवार्य प्रतीत होता है कि भारत में प्रांतों का पुनः संगठन करना आवश्यक है—जो उसकी सांस्कृतिक भौगोलिक तथा आर्थिक अवस्थाओं के अनुकूल हो और जिसे वहाँ के लोग स्वीकार करते हों। हम इस पुनः संगठन के सिद्धान्त को देर से मान भी चुके हैं।...परन्तु दुर्भाग्य से मैं देखता हूँ कि इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देने पर, प्रायः गर्मी और भावावेश पैदा हो जाते हैं, जिससे मानसिक शान्ति भंग हो जाती है और समस्याओं को धैर्य-पूर्वक हल नहीं किया जाता। इस लिए मैं यही परामर्श दूँगा कि भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्विभाजन को अभी स्थगित रखा जाए—और उचित समय आने पर उस प्रश्न पर पुनर्विचार किया जाए। इसी में देश का कल्याण है।"

डा० राजेन्द्रप्रसाद ने भी पुनर्विभाजन के प्रश्न को स्थगित रखने की सम्मति प्रकट की। उनका कथन था कि—"सीमासम्बन्धी झगड़ों को निपटाने के समय भिन्न-भिन्न प्रान्तों में द्वेषाग्नि प्रदीप्त हो जाने की सम्भावना है। देश की वर्तमान अवस्था में जातीय एकता परमावश्यक है। यह विद्वेषाग्नि उसके लिए घातक होगी।"

भारतीय संविधान सभा ने उपर्युक्त प्रश्न पर विशेष रूप से विचार करने के लिए एक उपसमिति नियुक्त की। जिसके प्रधान जस्टिस दर

थे। इस उपसमिति ने भी अपनी रिपोर्ट में अभी भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्विभाजन को अनुचित बतलाया।

हमारी सम्मति में पुनर्विभाजन के प्रश्न को कुछ देर के लिए स्थगित रखने में ही देश का कल्याण है। ऐसे कार्यों में शीघ्रता करना अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी है। अंग्रेज़ी राज्य में, यदि १५० वर्षों तक, कुछ सांस्कृतिक समुदाय मिल कर रह सकते थे तो वे दस पाँच वर्ष और भी धैर्य कर सकते हैं। पाकिस्तान के अवांछित तथा बाधित विभाजन के बाद भारत अभी सँभल नहीं पाया है। शरणार्थी-समस्या, खाद्य-समस्या, काश्मीर-समस्या आदि कई विकट समस्याओं का भारतराष्ट्र को स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ ही सामना करना पड़ा है। अभी तक अवस्थाएँ विचलित एवं द्रवित रूप में है। उनके कुछ स्थायी रूप में आ जाने के बाद ही, सांस्कृतिक समस्याओं को सुलझाया जा सकेगा। भारत ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया है। हिन्दी के पूर्ण रूप से प्रचलित हो जाने पर सांस्कृतिक समुदायों में अभी कुछ अन्य परिवर्तन होंगे। उनकी प्रतीक्षा करके तथा सांस्कृतिक धाराओं के अधिक स्पष्ट हो जाने के बाद ही, राज्यों का पुनर्विभाजन करना बुद्धिमत्तापूर्ण होगा।

**उपसंहार**

---

## ७. स्वतन्त्र भारत की समस्याएँ

### भूमिका, स्वतन्त्र भारत की समस्याएँ, उनका हल, स्वतन्त्रता की कीमत, उपसंहार

हमारा भारत १५ अगस्त १९४७ को विदेशियों की दासता से मुक्त हुआ। विदेशी राज्य में देश के हित की तरफ ध्यान नहीं दिया गया। इतना ही नहीं, इस देश को आर्थिक, राजनीतिक तथा नैतिक दृष्टि से सर्वथा अशक्त कर दिया गया। यहाँ के ग्रामवासियों को केवल भूमि-कर देने का साधन

**भूमिका**

बनाया गया। उनकी जीविका के एक मात्र अवलम्ब कृषि को भी सर्वथा उपेक्षित रखा गया और नहरें आदि बनाने पर धन-व्यय करने में संकोच किया गया। परिणाम-स्वरूप लगभग सात लाख गाँवों में रहने वाली ३५ करोड़ जनता धनाभाव के कारण दरिद्रता, ऋणग्रस्तता अशिक्षा एवं रोगों के महागर्त में गिर गई और समस्त भारत एक पिछड़ा हुआ देश माना जाने लगा।

**स्वतन्त्र भारत की समस्याएँ**

स्वतन्त्रता के साथ ही भारत को अनेक विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा। अंग्रेज शासकों ने जाते समय हमारे राष्ट्र—शरीर को शल्यक्रिया द्वारा खंड-खंड कर दिया और उसमें के एक बड़े अंग को काट कर विरोधी पृथक् राष्ट्र (पाकिस्तान) रूप में खड़ा कर दिया। यह विरोधी राष्ट्र रक्त की नदियाँ बहाने के बाद स्थापित हुआ। उसका भारत के प्रति नित्य-शत्रु बना रहना स्वाभाविक ही था। पृथक् होने के साथ ही उसने भारत के काश्मीर-राज्य पर आक्रमण कर दिया। स्वतन्त्र भारत को अपनी रक्षा के लिए करोड़ों रुपया व्यय करके वहाँ सेनाओं को भेजना पड़ा।

उपर्युक्त विभाजन के परिणाम-स्वरूप लगभग एक करोड़ व्यक्तियों को बे-घर हो कर शरणार्थी रूप में भारत आना पड़ा। यह शरणार्थी-समस्या स्वतन्त्र भारत पर प्रबल आघात के समान आ कर पड़ी। अभी तक यह समस्या विकट रूप में हमारे शासकों के सम्मुख है। अभी इसे कुछ अंश तक ही हल किया जा सका है।

स्वतन्त्रता के साथ तीसरी राजनीतिक समस्या, देसी रजवाड़ों की थी—जो संख्या में लगभग ६०० थे। अंग्रेज शासकों ने चलते समय इन्हें भी स्वतन्त्र भारत के विरुद्ध खड़ा कर देने का षड्यन्त्र रचा। हैदराबाद, जूनागढ़ आदि रजवाड़ों ने तो खुले रूप से विद्रोह का झंडा भी खड़ा कर दिया। पाकिस्तान ने इन सब विद्रोहियों की गुप्त रूप से सहायता आरम्भ कर दी। भारत की सद्यः प्राप्त स्वतन्त्रता इन षड्यन्त्रों के कारण पुनः नष्ट होती हुई प्रतीत होती थी। ऐसे विकट समय में

दूरद्रष्टा, राजनीतिविशारद, लौहपुरुष सरदार पटेल का ही यह कार्य था कि उसने देश की राजनीतिक एकता को अपना अविचल ध्येय निश्चित किया और एक-एक करके सब रजवाड़ों को बुद्धिमत्तापूर्वक भारत-राष्ट्र में समाविष्ट हो जाने के लिए प्रेरित किया। इस लौहपुरुष ने अपने लोहे के हाथ से सब विप्लवकारी तत्त्वों को दृढ़ता से दमन किया और उन्हें शान्ति के मार्ग पर आने के लिए विवश किया। स्वतन्त्र भारत के प्रथम वर्ष में ही हिमालय से कन्याकुमारी तक एक अविच्छिन्न राष्ट्र स्थापित हो गया और उन्नति का पथ निष्कंटक बना दिया गया।

उपर्युक्त राजनीतिक समस्याओं का सामना करने के साथ ही स्वतन्त्र भारत को उन आर्थिक समस्याओं का भी सामना करना पड़ा, जिनको सुलझाना स्वतन्त्रता का मुख्य प्रयोजन था। स्वतन्त्र भारत को दरिद्रता से युद्ध करना था, जनता के जीविकास्तर को ऊँचा करना था, भोजन, वस्त्र तथा आश्रय-स्थानों का पूर्ण प्रबन्ध करना था। देश के विभाजन के बाद भारत में आए शरणार्थियों के आर्थिक संकट को दूर करना था।

भारत का दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता के साथ ही खाद्य-समस्या ने भी अति भीषण रूप धारण कर लिया। मालूम नहीं क्यों इस विशाल देश में अनाज की उत्पत्ति कम हो गई और हमें बाहर के देशों का अनाज के लिए मुँह ताकना पड़ा। इस खाद्य-सामग्री की कमी को स्वतन्त्र भारत द्वारा शीघ्रातिशीघ्र पूरा किया जाना है।

विदेशी शासन के शोषण के अतिरिक्त हमारी आर्थिक समस्याओं का कारण हमारे नैतिक चरित्र की दुर्बलता भी है। हमारा परिश्रमी न होना, प्रमादी बने रहना, प्रगतिशील होने से इन्कार करना इत्यादि भी हमारी खाद्य-समस्या के तीव्र रूप धारण करने के मुख्य कारण हैं। शायद अंग्रेजों की राजनीतिक एवं मानसिक दासता के परिणाम-स्वरूप ही हमारे चरित्रों में ये सब दोष उत्पन्न हो गए हैं।

जब तक जातीय चरित्र के स्तर को ऊँचा नहीं किया जाएगा, तब

तक देश की राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं को सुलझाना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाएगा। प्रत्येक समस्या का हल योग्य, ईमानदार, चरित्रवान् मनुष्यों द्वारा ही होता है। मनुष्यों को सच्चा बनाए बिना देशोत्थान के मार्ग पर एक कदम भी नहीं बढ़ाया जा सकता। अतः नैतिक समस्या का हल करना राष्ट्र द्वारा सर्वप्रथम अपेक्षित है।

नैतिक समस्या को हल करने का एकमात्र साधन यही है कि देश की उदीयमान नवीन सन्तति की शिक्षा का कार्य राष्ट्र के अपने निरीक्षण तथा नियन्त्रण में हो। अपने देश के भावी नागरिकों में जिन चरित्र के तत्त्वों का हम समावेश करना चाहते हैं, उन्हें अभी से प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करने वाले बालक-बालिकाओं में राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति द्वारा डाला जाना आवश्यक है। उचित शिक्षा-प्रणाली द्वारा जातीय चरित्र के पुनः संघटन का कार्य इन्हीं शिक्षणालयों द्वारा सम्भव हो सकता है।

**समस्याओं का हल**

हमारी राजनीतिक समस्याएँ—पाकिस्तान, काश्मीर, रजवाड़ों आदि के प्रश्न—स्वयं हल हो जाएँगे, यदि हम नैतिक बल से युक्त होंगे। राष्ट्र के हितैषी, सच्चे सेवक, प्राणों की आहुति दे देने वाले हमारे सैनिक किसी भी शत्रु का वीरता से मुकाबला कर सकेंगे, और आक्रमण करने वालों को देश की भूमि से बाहर निकालने में समर्थ हो सकेंगे। भारत की स्वतन्त्रता की रक्षा इन्हीं चरित्रवान् वीर क्षत्रियों के हाथ में सुरक्षित रहेगी। हमें ऐसे सैनिक बल को उचित सैनिक शिक्षा-प्रणाली द्वारा बढ़ाना होगा।

देश की निर्धनता की समस्या सचमुच एक टेढ़ी खीर है। इस समस्या को हल करने के लिए:—

१. **कृषि को उन्नत करना होगा**—वह सिंचाई का प्रबन्ध करने से, वैज्ञानिक प्रयोगों के शिक्षण से, उत्तम बीजों के बोने से तथा अन्य तकावी देने आदि उपायों से उन्नत की जा सकती है। स्वतन्त्र भारत में किसान को सन्तुष्ट रखना होगा। गाँवों में स्कूल, अस्पताल, सड़कें,

बिजली, डाकखाना, बैंक आदि सब सुविधाओं को पहुँचाना होगा जिनसे ग्रामवासियों के जीविका-स्तर को ऊँचा किया जा सके।

हमारे देश की विषम होती हुई खाद्य समस्या का हल भी कृषि की उन्नति में ही है। यदि भारत के कृषक वर्ग को उत्साहपूर्ण बनाया जा सके, उन्हें शासन की तरफ से सुविधाएँ प्रदान की जाएँ, तो कोई कारण नहीं कि एक ही वर्ष में अनाज की सब कमी को पूरा न किया जा सके।

**२. व्यवसायों की उन्नति**—कृषि के साथ-साथ व्यवसायों को उन्नत करना भी आवश्यक है। आबादी के बहुत बड़े भाग का कृषि पर आश्रित रहना अहितकर है। फिर कृषि कार्य में लगभग ६ मास प्रतिवर्ष निकम्मा ही बैठना होता है। अतः ग्रामों में ही ग्राम व्यवसायों की व्यवस्था करना आवश्यक है, जिससे खाली समय में कोई उत्पादक कार्य किया जा सके।

गृह-व्यवसायों के अतिरिक्त बड़े-बड़े व्यवसायों का संगठन करना भी, देश की निर्धनता दूर करने के लिए, परम अपेक्षित है। आज भी करोड़ों रुपए का माल बाहर के देशों से भारत में आता है। यह अनुचित है। हमें अपनी सब आवश्यक वस्तुओं को अपने ही देश में उत्पन्न करना चाहिए। रेलवे-एंजिन, मोटर, मशीनरी, रेडियो, कपड़ा, दवाई, भूषा-सामग्री आदि सब कुछ अपने ही कारखानों में तैयार होने चाहिए। इसी में देश की समृद्धि है। इसीसे करोड़ों देशवासियों की जीविका का प्रबन्ध हो सकता है। इन व्यवसायों को उन्नत करना स्वतन्त्र भारत के शासन का मुख्य कर्तव्य होना चाहिए।

**३. सहयोग-समितियों की स्थापना**—निर्धनता को दूर करने के लिए सहयोग सिद्धान्त का प्रचलित करना आवश्यक है। कृषि में भी सहयोग-विधि को अपनाया जा सकता है। उत्पन्न हुए पदार्थों को बेचने में भी सहयोग से अधिक लाभ उठाया जा सकता है। खरीददार लोग भी सहयोग समितियों द्वारा अपनी अच्छी सहायता कर सकते हैं। इन्हीं

संमितियों द्वारा ऋणग्रस्तता के अभिशाप को भी ग्रामवासियों से दूर किया जा सकता है।

भारत को शीघ्र ही उपर्युक्त समस्याओं को हल करना होगा। अन्यथा स्वतन्त्रता के पुनः छिन जाने का भय है। निर्धनता में पड़े हुए, सदियों से पद-दलित सामान्य जन अब अधिक प्रतीक्षा न करेंगे। उनके दुःखों का निवारण शीघ्र ही हो जाना आवश्यक है। अन्यथा वे उन प्रबल शक्तियों के प्रभाव में आ जाएँगे, जो अन्याय-प्रतिष्ठित सामाजिक संघटन को नष्ट-भ्रष्ट करके ही शान्त होती हैं। देश में क्रान्ति होगी, विप्लव होगा, अराजकता होगी—और चैन से रहने वाले, विलास-लिप्त, अकर्मण्य लोगों का अन्त होगा। पूर्व इसके कि ऐसे भीषण कांड का हमारे देश में सूत्रपात हो, स्वतन्त्र भारत के शासन द्वारा उचित सामाजिक परिवर्तन बहुत ही शीघ्र कर दिये जाने चाहिएँ। अधिकारसम्पन्न राज्यमन्त्रियों का कर्तव्य है कि वे उपर्युक्त समस्याओं की गम्भीरता को अनुभव करें और उनका शीघ्रातिशीघ्र हल ढूँढ निकालने का यत्न करें।

**उपसंहार**

---

## ८. शराबबन्दी

### भूमिका, मद्यपान की हानियाँ, जातीय चरित्र पर प्रभाव, कानून द्वारा शराबबन्दी, उपसंहार

पाप दो प्रकार के होते हैं—वैयक्तिक पाप तथा सामाजिक पाप। वैयक्तिक पाप वे होते हैं जिनके परिणामस्वरूप पापाचरण करने वाले व्यक्ति को ही हानि होती है। सामाजिक पाप वे होते हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप उस व्यक्ति के अतिरिक्त, समाज को भी हानि होती है। अंग्रेज दार्शनिक हक्सले ने सामाजिक पापों को सर्वथा अक्षम्य बतलाया है। किसी व्यक्ति का अधिकार नहीं कि वह उन बुराइयों का अनुष्ठान करे जिनसे

**भूमिका**

भिन्न राज्यों के ऐच्छिक विधान का विषय बना दिया गया। धारा सं० २१ द्वारा संविधान ने राज्यों को अधिकार दिया कि वे सार्वजनिक सम्मति के अनुसार शराबबन्दी के नियमों को बनाएँ।

भारतवर्ष में भी इस विषय में तीव्र मतभेद है कि क्या शराबबन्दी को कानून द्वारा ठूँसना उचित है या सार्वजनिक सम्मति उत्पन्न करके सामाजिक सुधार रूप में इसे शनैः शनैः प्रचलित करना चाहिए। विरोधियों का कथन है कि सदाचार को बलपूर्वक उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसे तो शिक्षा द्वारा बचपन से चरित्र में अङ्कित किया जा सकता है। कानून से किए गए बलात्कार का परिणाम भयङ्कर प्रतिक्रिया ही होती है।

विरोधियों का यह भी कथन है कि शराबबन्दी से राष्ट्रीय आय में व्यर्थ कमी उत्पन्न कर दी जाएगी। भारत की आमदनी पहले ही कम है और शिक्षा, स्वास्थ्य, निर्माण आदि के अनेकों कार्य इसी कमी के कारण रुके पड़े हैं। केवल भावुकता में पड़ कर आय के एक बड़े स्रोत को हाथ से न जाने देना चाहिए।

विरोधियों के ये सब कथन किसी अंश तक, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्य हैं। परन्तु जातीय पुनर्निर्माण के दृष्टिकोण से इनकी असारता स्पष्ट है। यदि कानून द्वारा सतीप्रथा, बालविवाह आदि सामाजिक बुराइयों को रोकना वांछनीय था, तो शराबखोरी को रोकना अवांछनीय नहीं हो सकता। जो व्यक्ति प्रकृति के परवश हैं, उन्हें कानून द्वारा ही सीधे रास्ते पर लाया जा सकता है। हाँ, बाल-शिक्षा एवं प्रौढ़-शिक्षा द्वारा भी शराबखोरी को बंद करने का प्रयत्न नितान्त आवश्यक है, पर कानून द्वारा रोकना भी अनुचित नहीं है।

स्वतन्त्र भारत में जातीय पुनर्निर्माण का विशाल कार्य हमारे सम्मुख है। हमें शीघ्र ही चहुँमुखी उन्नति करनी है। देश की निर्धनता को दूर करना है, अविद्या को मिटाना है, रोगों का कष्ट निवारण करना है। जातीय चरित्र को मूल से

उपसंहार

पुनः संघटित करना है। इसके लिए व्यक्ति को शराबखोरी जैसी दुराचार की तरफ प्रवृत्त करने वाली बुराई से बचाना अत्यन्त अपेक्षित है। शराबखोरी सब पापों की जड़ है। इसका शिकार हो कर मनुष्य झूठ, धोखा, चोरी, व्यभिचार आदि को भी बुरा नहीं मानता। धन का अपव्यय, अनुत्तरदायित्व, प्रमाद, अकर्मण्यता आदि समाज-अहितकारी व्यसनों में वह लिप्त हो जाता है और देश का महान् अकल्याण करता है। अतः कानून द्वारा शराबखोरी पर अङ्कुश रखना आवश्यक है। इसीलिए महात्मा गाँधी ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद शराबबन्दी को संविधान में स्थान देने पर बल दिया। अतएव संविधान की धारा सं० ४६ से इसे राष्ट्र का प्रेरक सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया।

---

## ९. हमारी उच्चशिक्षा का माध्यम

**भूमिका, माध्यम का महत्त्व, प्रांतीय भाषाएँ अथवा राष्ट्र-भाषा, हिन्दी की योग्यता, उपसंहार**

प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम बच्चे की अपनी मातृभाषा होनी चाहिए—इस सिद्धान्त से किसी का मतभेद नहीं हो सकता। बच्चा जब अपनी मातृभाषा के पढ़ने तथा लिखने से अच्छी तरह परिचित हो जाए, तभी किसी अन्य भाषा का बोझ उसके मस्तिष्क पर पड़ना उचित है। विदेशी शासनकाल में विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा का प्रारम्भ करना भारतीय संतान का सब से बड़ा दुर्भाग्य था। इससे, परम्परा से आती हुई शिक्षा-प्रणाली का इस देश से लोप हो गया और अंग्रेजी शिक्षणालयों द्वारा ऐसे अर्धशिक्षित व्यक्तियों की उत्पत्ति हुई, जो अपनी भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण, भारतीय साहित्य का अध्ययन न कर सकते थे और विदेशी भाषा के अधूरे ज्ञान के कारण विदेशी साहित्य पर भी अधिकार न रख सकते थे। ऐसी विदेशी शिक्षा-प्रणाली से दीक्षित अंग्रेजों के मानस-पुत्रों ने देश के दासता की जंजीरों में

जकड़े रहने में सहायता की। आज भी विदेशी भाषा की गुलामी हमारे उन्नति के मार्ग पर चलने में बाधक हो रही है और हम अपनी सभ्यता, संस्कृति, भाषा तथा साहित्य की उपेक्षा करते हुए पश्चिम के अन्धानुगामी बन रहे हैं।

**माध्यम का महत्त्व**

भाषा संस्कृति का आधा भाग है। जिस भाषा से भी बच्चे की प्रारम्भिक शिक्षा को शुरू किया जाए, उसी भाषा के संस्कार जीवन-पर्यन्त उस पर रहते हैं। अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा प्रारम्भ करने वाले बालक, प्रायः अंग्रेजी सभ्यता में आजीवन रँगे रहते हैं। उनके उठने, बैठने, बोलने, खाने, पीने आदि का सब प्रकार अंग्रेजी ढंग का हो जाता है और वे उसी जीवन-प्रकार ( way of life ) में गौरव अनुभव करते हैं। इसके विपरीत भारतीय भाषा से शिक्षा प्रारम्भ करने वाले बालक के चरित्र पर भारतीयता की छाप बैठ जाती है। अतः उचित माध्यम द्वारा बालकों की शिक्षा प्रारम्भ करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः देश का समस्त भविष्य उसकी शिक्षा-प्रणाली पर, विशेषतया शिक्षा-प्रणाली के माध्यम पर अवलम्बित है। इंग्लैंड, फ्रांस, अमरीका आदि वर्तमान अग्रगामी देशों में शिक्षा-माध्यम की एकता द्वारा जातीय जीवन को सुसंघटित तथा समन्वित किया गया है।

**प्रांतीय भाषाएँ अथवा राष्ट्रभाषा**

भारत बहुत बड़ा देश है। इसमें सब मिला कर लगभग ३० छोटे बड़े राज्य हैं। इन राज्यों में भिन्न-भिन्न संस्कृति के समुदाय रहते हैं, जिनकी भाषाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम सर्वसम्मति से प्रत्येक सांस्कृतिक समुदाय की अपनी सांस्कृतिक भाषा में होना चाहिए। प्रश्न तो यह है कि उच्च शिक्षा अर्थात् विश्वविद्यालय में प्रवेश करने के बाद विद्यार्थियों की शिक्षा का माध्यम क्या होना चाहिए? क्या उच्च-शिक्षा भी प्रांतीय भाषा में दी जानी चाहिए, अथवा राष्ट्रभाषा में? एक ऐसा भी पक्ष है जो अंग्रेजी को ही उच्चशिक्षा का माध्यम बनाए

रखना चाहता है।

अंग्रेज़ी के पक्षपातियों का कथन है कि संविधान द्वारा घोषित राष्ट्र-भाषा हिन्दी में तथा प्रान्तीय भाषाओं में ऐसी योग्यता नहीं कि वे विज्ञान इंजीनियरिंग, शरीरशास्त्र आदि विषयों की शिक्षा का माध्यम बन सकें। इन भाषाओं में पारिभाषिक शब्द ही नहीं, जिनके द्वारा इन विषयों का शिक्षण किया जा सके।

इस अंग्रेज़ी पक्षपात का हम समर्थन नहीं कर सकते। प्रत्येक स्वाभिमानी राष्ट्र को अपनी भाषा में ही ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिए। अभी तक हमारी भाषाएँ, उपेक्षित रहने के कारण निःसन्देह अविकसित अवस्था में है। उनमें विज्ञान की पुस्तकें नहीं हैं। वैज्ञानिक परिभाषाएँ भी अभी तक नहीं बन सकीं। परन्तु समय के साथ-साथ, शासन की सक्रिय सहायता पा कर, ये भाषाएँ विकसित हो सकती हैं और उच्च शिक्षा का माध्यम बनने की योग्यता प्राप्त कर सकती हैं।

उच्चशिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषा हिन्दी को बनाया जाए अथवा प्रान्तीय भाषाओं को—इस विषय पर अधिक विचार की आवश्यकता है। हमारी अपनी सम्मति तो यही है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी को ही उच्च-शिक्षा का माध्यम बनाने में देश का कल्याण है। जो स्थान आज अंग्रेजी को विश्वविद्यालयों में प्राप्त है, वही स्थान राष्ट्रभाषा हिन्दी को प्राप्त होना चाहिए।

राष्ट्रभाषा को माध्यम बनाने से राष्ट्र के एकीकरण में सहायता मिलेगी। यदि हमने प्रान्तीय भाषाओं को उच्चशिक्षा का माध्यम बना दिया तो सर्वदेशीय सम्मेलनों में शिक्षित वर्ग का मिल कर परस्पर विचार-विनिमय करना ही कठिन हो जाएगा। संयुक्तराष्ट्र-संघ ( U. N. O. ) की तरह हमारे देश के सम्मेलनों में दुभाषियों की सहायता से एक दूसरे के विचारों को जानने की आवश्यकता पड़ेगी। फिर, एक प्रान्त में किए गए वैज्ञानिक आविष्कारों तथा विद्वानों द्वारा रचित साहित्य का लाभ दूसरे प्रान्त वालों को न हो सकेगा। पुनः राष्ट्रभाषा को ही उच्च

शिक्षा का माध्यम बनाने में राष्ट्र का कल्याण है।

यह ठीक है कि हिन्दी का विकास अंग्रेज़ी भाषा की तरह अभी नहीं हो चुका। परन्तु इसे बहुत ही शीघ्र, शासन की उदार सहायता से विकसित किया जा सकता है। हम इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव उपस्थित करते हैं:—

**हिन्दी की योग्यता**

(क) प्रत्येक भारतीय विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग शीघ्र ही स्थापित होना चाहिए और हिन्दी एम. ए. तक पढ़ाई का प्रबन्ध होना चाहिए।

(ख) केन्द्रीय शासन द्वारा वैज्ञानिक विषयों की परिभाषाएँ बनाने के लिए, विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त होनी चाहिए, जो शीघ्र पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करे।

(ग) केन्द्रीय शासन द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों के विद्वानों का अनुवाद-विभाग (Translation Bureau) स्थापित होना चाहिए, जो अंग्रेज़ी तथा विदेशी भाषाओं में प्राप्त वैज्ञानिक साहित्य का कुछ ही वर्षों में अनुवाद कर दे।

(घ) हिन्दी में उच्चशिक्षा के योग्य पुस्तकों के रचयिताओं को शासन द्वारा पुरस्कार तथा मानपत्र दे कर उत्साहित किया जाना चाहिए।

(ङ) राज्य की सरकारों को हिन्दी-माध्यम द्वारा अपने-अपने विश्वविद्यालयों में एक निश्चित समय में उच्चशिक्षा देने और सब परीक्षाएँ प्रारम्भ कर देने की घोषणा कर देनी चाहिए।

अहिन्दी-भाषाभाषी राज्यों में अवश्य कठिनाई का सामना करना पड़ेगा, परन्तु जातीय हित और देश-प्रेम की भावना प्रत्येक देशवासी से कुछ त्याग की अपेक्षा करती है। तभी हमारे राष्ट्र की उन्नति हो सकती है। तभी दक्षिण से उत्तर तक और पूर्व से पश्चिम तक, भारत में एक-भारतीयता अनुप्राणित हो सकती है।

हमारा विश्वास है कि हिन्दी में उच्चशिक्षा का माध्यम बनने की पूर्ण योग्यता कुछ ही वर्षों के प्रयत्नों से उत्पन्न की जा सकती है।

आवश्यकता केवल राष्ट्र से सक्रिय सहयोग प्राप्त करने की है। केन्द्रीय शासन पर, इस सम्बन्ध में, विशेष उत्तरदायित्व है। यदि राष्ट्रभाषा को सचमुच १५ वर्षों तक जीवित, जागृत एवं उच्चशिक्षा का माध्यम बनाया जाना है, तो अभी से उसमें उच्च साहित्य तैयार कराने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस भाषा को साधारण बोल-चाल और सरकारी कार्यों का माध्यम भी तब तक नहीं बनाया जा सकता, जब तक पूर्ण ध्यान से इसके विकास के लिए यत्न नहीं किया जाता। उदारता-पूर्वक धन व्यय कर के राष्ट्रभाषा के साहित्य का निर्माण कराया जाना चाहिए। हिन्दी के विद्वानों का आदर होना चाहिए और विश्वविद्यालयों, विद्यालयों और पाठशालाओं के बाहर हिन्दी द्वारा प्रौढ़-शिक्षण पर भी बल दिया जाना चाहिए। तभी हम संविधान में स्वीकृत राष्ट्रभाषा के प्रति ईमानदारी से अपना कर्तव्य पालन कर सकते हैं। अन्यथा १५ वर्षों तक भी हिन्दी के राष्ट्रभाषा पद प्राप्त करने की कोई आशा नहीं।

हम भारत के शिक्षा-अधिकारियों से अनुरोध करते हैं कि वे देश के सविधान की अवहेलना न करें और उसके अक्षर तथा भाव को यथा-शीघ्र सम्पन्न करने का यत्न करें। यदि हमने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का संकल्प किया है, तो उसे पूरा करने के लिए हमें सभी सम्भव उपायों से प्रयत्न भी करना आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विश्व-विद्यालयों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया जाना नितान्त अपेक्षित है।

# १०. भारत तथा ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल

## भूमिका, ब्रिटिश राष्ट्र मंडल का स्वरूप, राष्ट्रमंडल में रहने के लाभ, राष्ट्रमंडल में रहने की हानियाँ, उपसंहार

**भूमिका**

ब्रिटिश पार्लेमेंट द्वारा स्वीकृत भारत-स्वतन्त्रता कानून १६४७ के अनुसार दो स्वतन्त्र-राष्ट्र—भारत तथा पाकिस्तान—१५ अगस्त १६४७ को उत्पन्न हुए। ये नवीन राष्ट्र ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अन्तर्गत राज्य रूप में स्थापित किए गए। ये राज्य कैनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड आदि के समान अपने आन्तरिक शासन में सर्वथा स्वाधीन रखे गए, परन्तु वैदेशिक विषयों में राष्ट्रमंडल तथा इंग्लेण्ड से सम्बद्ध रखे गए। इन स्वतन्त्र राष्ट्रों को इस बात का पूर्ण अधिकार दिया गया कि जब वे चाहें राष्ट्रमंडल से सर्वथा पृथक् हो जाएँ और किसी भी अंश में उससे सम्बद्ध न रहे।

भारत के उपर्युक्त रूप में स्वतन्त्र होने के बाद, प्रश्न उत्पन्न हुआ कि क्या उसे ब्रिटिश राष्ट्रमडल के अन्तर्गत रहना चाहिए अथवा सर्वथा पृथक् हो जाना चाहिए। इस विषय में अंग्रेज़ शासकों का अब कोई दबाव शेष नहीं रहा। हमें अपने हित के दृष्टिकोण से निश्चय करना है कि क्या हमारा राष्ट्रमंडल से सम्बन्ध कायम रखना उचित होगा या नहीं।

**ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का स्वरूप**

पहले जिसे ब्रिटिश साम्राज्य कहा जाता था, वह आज अस्तित्व नहीं रखता। ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत देशों पर इंग्लेण्ड का पूर्ण अधिकार था और उसकी पार्लेमेंट द्वारा उन में शासन होता था। उसी में स्वीकृत किए गए कानून वहाँ लागू होते थे और उन देशों में अपनी विधान-सभाएँ न होती थीं। इंग्लेंड का राजा समस्त साम्राज्य का सम्राट् माना जाता था और उसी के नाम पर समस्त साम्राज्यान्तर्गत देशों में सब शासन कार्य होता था।

पर अमरीका के स्वतन्त्रता-संग्राम और परिणाम-स्वरूप ब्रिटिश साम्राज्य में से निकल जाने के बाद साम्राज्य के अन्तर्गत कैनाडा आस्ट्रे-लिया आदि में भी असन्तोष बढ़ने लगा और स्वतन्त्रता के भाव विद्युत्-गति से फैलने लगे। ब्रिटिश गवर्नमेंट ने अमरीका की तरह अन्य अपने अधीन देशों को हाथ से जाता देख कर लार्ड डरहम को कैनाडा में उत्पन्न हुई स्थिति को अध्ययन करने तथा उसके अनुसार अपनी सम्मति देने के लिए भेजा। १८६६ में लार्ड डरहम ने अपनी रिपोर्ट पेश की और उसमें कैनाडा को औपनिवेशिक स्वराज्य ( Dominion status ) दे देने की सिफारिश की। उसका कथन था, कि किसी भी देश को उसकी इच्छा के विरुद्ध अधिक देर तक पराधीन नहीं रखा जा सकता। बुद्धि-मत्ता इसी में है कि स्वाधीनता दे कर उसका सम्बन्ध अपने साथ कायम रखा जावे। औपनिवेशिक स्वराज्य की कल्पना के अनुसार प्रत्येक उपनि-वेश अपने भीतरी शासन में सर्वथा स्वाधीन रहता था और केवल विदेश-सम्बन्ध के मामलों में ब्रिटिश राज्य के परामर्श के अनुकूल अपनी नीति निर्धारित करता था।

परिणाम-स्वरूप कैनाडा को ही यह औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं दिया गया, अपितु क्रमशः आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेंड, दक्षिणी अफ्रीका तथा आयरलैंड को भी ऐसा ही स्वराज्य प्राप्त हो गया। ये सब देश स्वतन्त्र होते हुए भी ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में सम्मिलित रहे—क्योंकि इन्हें सम्मिलित रहने में लाभ था। किसी विदेशी आक्रान्ता के आक्रमण होने पर सम्मिलित देशों में प्रत्येक एक दूसरे की सैनिक सहायता की अपेक्षा कर सकता था। इंग्लैंड का भी कर्तव्य था कि वह अपने राष्ट्रमंडल के अन्तर्गत प्रत्येक राष्ट्र की धन, जन, शस्त्र आदि से पूरी सहायता करे।

१९२६ में, बैलफोर कमीशन द्वारा औपनिवेशिक स्वराज्य ( Dominion Status ) की निम्न परिभाषा की गई, जिसे वेस्ट मिनिस्टर स्टेच्यूट १९३१ द्वारा कानून का रूप भी दे दिया गया। इसके अनुसार औपनिवेशिक स्वराज्य वह शासन-स्वरूप था—"जिसमें ब्रिटिश

साम्राज्यान्तर्गत स्वतन्त्र जातियाँ, राजनीतिक स्थिति में सर्वथा समान, भीतरी अथवा बाहर के किसी विषय में परस्पर अधीन न रहती हुई, ब्रिटिश सम्राट् के प्रति समान वफादारी द्वारा सम्बद्ध हुई, स्वेच्छा पूर्वक ब्रिटिश राष्ट्रमंडल की सदस्य बन कर रहती हैं" । इसी परिभाषा को भारत के स्वतन्त्र होने के पूर्व तक स्वीकार किया जाता रहा ।

अगस्त १९४७ में स्वतन्त्र होने के साथ ही भारतीय नेताओं ने इस विषय पर विचार प्रारम्भ किया कि अपना संविधान बनाते समय भारत को गणराज्य ( Republic ) का रूप दिया जाए या ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अन्तर्गत उपनिवेश का । संविधान-सभा की सर्वसम्मति द्वारा इस बात को स्वीकार किया गया कि भारत "सर्वसत्ता सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य ( Sovereign Democratic Republic ) ही बनाया जाए। इसके अनुसार भारत राष्ट्र का अपना ही लोक-निर्वाचित राष्ट्रपति होगा और ब्रिटिश सम्राट् का नाम मात्र भी सम्बन्ध भारतीय शासन से न रहेगा । कैनाडा, आस्ट्रेलिया आदि उपनिवेशों में जैसे ब्रिटिश सम्राट् का प्रतिनिधि गवर्नर-जनरल रूप में रहता है, वैसा भारत में नियुक्त न किया जा सकेगा ।

२० अक्तूबर १९४८ को प्रधानमंत्रियों का सम्मेलन लंडन में बुलाया गया। भारत के प्रधान श्री जवाहरलाल ने संविधान सभा के उपर्युक्त निर्णय को वहाँ उपस्थित किया और कहा, कि भारत ऐसे राष्ट्र-मंडल में रहने के लिए सर्वथा उद्यत नहीं, जिसमें उसे अपने गणराज्य-रूप में परिवर्तन करना पड़े। उसे ब्रिटिश सम्राट् का सम्बन्ध किसी भी अंश में स्वीकार नहीं। वह उसी राष्ट्रमंडल में सम्मिलित हो सकेगा, जो स्वतन्त्र एवं समान राष्ट्रों द्वारा स्वेच्छापूर्वक परस्पर सहयोग की भावना से संगठित हो । ब्रिटिश प्रधानमंत्री को, भारत को राष्ट्रमंडल में सम्मिलित रखने के लिए पं० नेहरू के सब संशोधनों को स्वीकार करना पड़ा और राष्ट्रमंडल से पूर्व 'ब्रिटिश' शब्द को हटा देने, भारत में सम्राट् के नाम तक न रहने और उसके द्वारा नियुक्त गवर्नर-जनरल

न भेजने के प्रस्तावों को भी मान लेना पड़ा। वैस्टमिनिस्टर स्टेट्यूट में ही उचित परिवर्तन करके भारत-गणराज्य को राष्ट्रमंडल के अन्तर्गत करना स्वीकार कर लिया गया। ऐसी अनुकूल अवस्थाओं में राष्ट्रमंडल से पृथक् होना अनावश्यक समझ कर पं० नेहरू ने वापिस आ कर, संविधान-सभा में भारत-गणराज्य के राष्ट्रमंडल के अन्तर्गत रहने का प्रस्ताव उपस्थित किया, जिसे बहुसम्मति से स्वीकार कर लिया गया।

**राष्ट्रमंडल में रहने के लाभ**

राष्ट्रमंडल में रहने से भारत को कई लाभ होंगे। एक बिरादरी का अङ्ग बने रहने से व्यक्तियों को जो लाभ होता है, दुःख-सुख में जो सहायता मिलती है, वही लाभ और सहायता एक बड़ी राष्ट्र-बिरादरी में मिलने से व्यक्ति-राष्ट्र को प्राप्त होती है। यदि भारत पर किसी विदेशी शक्ति का आक्रमण होगा, हम राष्ट्रमंडल के अन्य सदस्यों से सैनिक सहायता की अपेक्षा कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त अपने व्यापार और व्यवसायों को उन्नत करने के लिए, कच्चे माल आदि की सहायता भी इन देशों से सुविधापूर्वक पा सकेंगे। खाद्य-समस्या के भीषण हो जाने पर भी राष्ट्र-मंडल का नैतिक कर्तव्य होगा कि पहले राष्ट्रमंडलान्तर्गत सङ्कटापन्न देश की आवश्यकता को पूरा करें, उसके बाद ही किसी अन्य देश को खाद्य पदार्थ भेजें।

बिलकुल अकेले रहने वाले राष्ट्र प्रायः सबल शक्तियों के शिकार बन जाते हैं। किसी न किसी समुदाय में सम्मिलित हो कर रहना आज अनिवार्य हो गया है। सर्वथा पृथक् रहने वाले को कोई मित्र नहीं मानता। प्रत्युत, उसे शत्रु ही समझा जाता है। अतः भारत का मिल कर रहने में ही हित है।

**राष्ट्रमंडल में रहने की हानियाँ**

विरोधियों का कथन है कि ब्रिटिश राज्य अब राजनीतिक तथा आर्थिक रूप से अत्यन्त निर्बल हो चुका है। उसके बनाए राष्ट्रमंडल में रहने से भारत को कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। ब्रिटिश सेनाएँ तथा उनकी

शस्त्र-सामग्री इतनी सीमित हो चुकी है, कि युद्ध की अवस्था में यह सहायता नगण्य के समान होगी । इंग्लैंड की आर्थिक स्थिति भी ऐसी हीन हो चुकी है, कि हम व्यवसाय अथवा व्यापार की उन्नति में उससे किसी भारी सहायता की आशा नहीं कर सकते ।

फिर, बड़ी हानि यह है कि ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से सम्बन्ध करके हम रूस जैसे महान् शक्तिशाली राष्ट्र के निरर्थक शत्रु मान लिए गए हैं और उसकी सहायता से सर्वथा वञ्चित हो रहे हैं । भारत को अपने स्वार्थ की दृष्टि से भी किसी प्रबल राष्ट्र को अपना दुश्मन नहीं बनाना चाहिए—अन्यथा भावी महायुद्ध में उसका सहायक कोई नहीं रहेगा और उसे अपनी प्राप्त स्वतन्त्रता से भी हाथ धोना पड़ेगा ।

भारत एशिया का सब से बड़ा जागृत तथा अग्रगामी देश है । यदि उसे संसार के इस पिछड़े हुए महाद्वीप का नेतृत्व करना है, तो उसे अपना ही एशियाई राष्ट्रमंडल बनाना चाहिए और ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से सम्बन्ध तोड़ देना चाहिए । पश्चिमी सभ्यता वा संस्कृति वाले उस राष्ट्र-मंडल के साथ भारत का कोई सादृश्य नहीं; उसे तो स्वसदृश देशों के साथ मिल कर ही एक पृथक् राष्ट्रसंघ बनाना चाहिए, जिसकी शक्ति किसी अन्य राष्ट्रसघ से कम न होगी ।

हमारी सम्मति में एशियाई राष्ट्र-संघ का विचार सर्वथा तर्क-संगत है । वर्तमान समय में, विकट होती हुई अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में जब तृतीय विश्व-युद्ध की सम्भावना प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और संसार के दो प्रबल, परस्पर-द्वेषी दलों में टक्कर लेने की आतुरता उग्र होती जा रही है, एक तीसरी प्रबल शक्ति का संघटित होना आवश्यक है, जो बीच में पड़ कर उन्हें आत्महत्या करने और संसार का सर्वसंहार करने से रोक सके । अतः भारत को एशियाई राष्ट्रसंघ बनाने का नेतृत्व करना चाहिए और ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से पृथक् हो कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता द्वारा इस विश्व-शान्ति के महान् शुभ कार्य को शीघ्र ही प्रारम्भ कर देना चाहिए ।

**उपसंहार**

# ११. संयुक्त राष्ट्र-संघ

## (U. N. O)

### भूमिका, संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य, संयुक्त राष्ट्रसंघ का संविधान, संयुक्त राष्ट्रसंघ का बल, उपसंहार

**भूमिका**

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त हुई। युद्ध से परिश्रान्त लगभग ५० देशों के प्रतिनिधि जून १९४५ में अमेरिका के सान्फ्रान्सिस्को नाम के नगर में एकत्र हुए और उन्होंने विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए, प्रेसिडेंट रूज़वेल्ट तथा प्रधानमन्त्री चर्चिल द्वारा प्रस्तावित विश्व-शान्ति-घोषणा-पत्र (Atlantic charter) पर विचार किया। तभी संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान को स्वीकार किया गया और इसकी उत्पत्ति हुई।

प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद भी राष्ट्र संघ ( League of nations ) का निर्माण किया गया था। उसके जन्मदाता प्रेसिडेंट विल्सन थे। युद्धों को रोकने और संसार में शान्ति स्थापित रखने के लिए उसने कुछ प्रयत्न भी किए, परन्तु वे सफल न हुए। उसकी अवज्ञा कर के इटली ने एबीसीनिया पर और जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिए। परिणाम स्वरूप द्वितीय महायुद्ध का १९३९ में सूत्रपात हुआ। तभी उस राष्ट्रसंघ का भी अन्त हो गया।

अब इस नए संयुक्त राष्ट्रसंघ को बहुत आशाओं के साथ आरम्भ किया गया है। मालूम नहीं, इसे विश्वशान्ति स्थापित करने में कहाँ तक सफलता मिलेगी। लक्षण तो बहुत उत्साहप्रद नहीं हैं।

**संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य**

साधारणतया संयुक्त राष्ट्रसंघ का उद्देश्य संसार के राष्ट्रों में सद्भाव बढ़ाना, उनमें विद्वेष कम करना तथा विद्वेष हो जाने पर युद्ध से इतर अन्य शान्तिपूर्ण उपायों से उसे दूर करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित चार कार्यों को सम्पन्न करना राष्ट्रसंघ का कर्तव्य है :—

(क) जाति, रंग आदि के भेद-भाव मिटा कर प्रत्येक मानव को उस के मानवीय अधिकार तथा स्वाधीनता प्राप्त कराने का यत्न करना।

(ख) मानव-जीवन के स्तर को ऊँचा करना, प्रत्येक व्यक्ति को जीविका के साधन दिलाना तथा उसकी आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति करना।

(ग) विश्व के राष्ट्रों में मित्रता के सद्भाव उत्पन्न करना और उनके झगड़ों को मिटाने की चेष्टा करना।

(घ) पिछड़े हुए देशों में स्वास्थ्य, शिक्षा एवं संस्कृति की उन्नति करना और उन्हें अपने संरक्षण में रख कर स्वाधीनता के योग्य बनने के लिए तैयार करना।

**संयुक्त राष्ट्रसंघ का संविधान**

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संघ का निम्नलिखित संविधान स्वीकार किया गया है। इस संविधान के अनुसार संयुक्तराष्ट्र के निम्नलिखित मुख्य अङ्ग निर्मित किए गए हैं—

**(क) साधारण परिषद् ( General Assembly )**—इसमें सम्मिलित होने वाले देश संख्या में ५६ हैं। प्रत्येक राष्ट्र का एक मत है। प्रतिवर्ष एक या दो बार इस साधारण परिषद् के अधिवेशन होते हैं। ये सदस्य-राष्ट्रों के किसी स्थान पर हो सकते हैं। अब तक ये लन्दन, न्यूयार्क, पेरिस आदि स्थानों पर हो चुके हैं।

इन अधिवेशनों में संसार में उत्पन्न संकटावस्थाओं पर विचार किया जाता है, और उनके निवारण के उपायों को ढूँढा जाता है। यदि कोई राष्ट्र, दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण कर दे, तो उसे इस परिषद् द्वारा आक्रान्ता घोषित किया जाता है और उसके विरुद्ध, संयुक्त राष्ट्रसंघ की तरफ से सम्मिलित सैनिक शक्ति का प्रयोग किया जाता है। साधारण अवस्थाओं में प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को, संघ को सब सम्भव उपायों से सहयोग देना होता है।

**(ख) सुरक्षा परिषद् (Security Counsil)**—यह संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यकारिणी सभा है। इसका अधिवेशन किसी समय बुलाया जा

सकता है। इसमें पाँच स्थायी सदस्य होते हैं और सात अस्थायी सदस्य। रूस, अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस और चीन तो विश्व की प्रधान शक्तियाँ होने के कारण स्थायी सदस्य स्वीकार किए गए हैं। उन्हें वीटो (Veto) अथवा निषेध का अधिकार भी दिया गया है, जिसके द्वारा वे परिषद् द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव को रद्द कर सकते हैं। वीटो से रद्द किए प्रस्ताव को पुनः कार्यान्वित करने का अधिकार साधारण परिषद् को होता है।

परिषद् के शेष सात सदस्य अन्य राष्ट्रों में से बारी-बारी निर्वाचित किए जाते हैं। छोटे से छोटे राष्ट्र को भी सुरक्षा परिषद् में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकता है।

इस सुरक्षा-परिषद् के सम्मुख कोई सदस्य-राष्ट्र दूसरे सदस्य-राष्ट्र के विरुद्ध अपनी शिकायत उपस्थित कर सकता है और उसे निवारण करने के लिए प्रार्थना कर सकता है। शिकायत पर पूर्णतया विचार किया जाता है। दोषी राष्ट्र को वैसा करने से मना किया जाता है। दो युयुत्सु देशों में परस्पर विद्वेष के कारणों का पता लगाया जाता है, और उन्हें मध्यस्थ अथवा पंच की नियुक्ति द्वारा दूर करने का यत्न किया जाता है। यह सुरक्षा-परिषद्, वास्तव में, संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्यतम सक्रिय अंग है। इसी के द्वारा संसार में शान्ति-स्थापना के निरन्तर प्रयत्न किए जाते हैं।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)—दो राष्ट्रों के साधारण विवादों को निपटाने के लिए, इस अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना, प्रथम महायुद्ध के बाद योरोप के हेग स्थान पर की गई। इसमें संसार के भिन्न-भिन्न देशों के विख्यात तथा अनुभवी न्यायाधीश नियुक्त किए गए। इनकी संख्या १५ तक थी। दो देशों के सीमा-संबंधी झगड़ों, नदियों के पानी, कर्जा आदि विषयों पर इस न्यायालय में विचार किया जाता है और निष्पक्ष निर्णय किया जाता है। इन निर्णयों को स्वीकार करना विवाद करने वाले राष्ट्रों का कर्तव्य होता है। वैसे, निर्णयों को कार्यान्वित करने की शक्ति इस न्यायालय

के पास नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ का नैतिक बल ही इन निर्णयों को लागू करा सकता है।

(घ) आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्—( Economic and Social Council ) विश्वयुद्धों के मूल आर्थिक कारणों को दूर करना इस परिषद् का कर्तव्य है। संसार में बढ़ते हुए सामाजिक अन्याय को दूर करके श्रमिकों, किसानों तथा अन्य पददलित वर्गों के जीवन-स्तर को ऊँचा करना इसी परिषद् का कार्य है। स्त्रियों और बच्चों से कारखानों में अनुचित दबाव डाल कर काम न लिया जाए, उनकी निर्बलता का लाभ उठा कर उन्हें व्यापार का साधन न बनाया जाए—इत्यादि बुराइयों को संसार से दूर करना और सामाजिक व्यवस्था को न्याय के आधार पर पुनः निर्मित करना, इस परिषद् का ध्येय है।

(ङ) संरक्षण-परिषद् ( Trusteeship Council )—इस परिषद् को उन पिछड़े हुए देशों की देख-रेख करनी होती है, जो अभी अशिक्षा के कारण अवनत अवस्था में हैं। ऐसे देशों में शिक्षा का प्रबन्ध करना, आर्थिक स्तर को ऊँचा करना, राजनीतिक जागृति उत्पन्न करना तथा उन्हें स्वाधीनता के योग्य बनाना, इस संरक्षण परिषद् का कर्तव्य होता है। ये पिछड़े हुए देश प्रायः सबल राष्ट्रों के शिकार बन जाते थे—और इन शिकारों के लिए राष्ट्रों में परस्पर युद्ध छिड़ जाते थे। ऐसे देशों का किसी विशेष राष्ट्र के अधीन न हो कर संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधीन होना, जहाँ उन देशों के लिए हितकर है, वहाँ विश्वयुद्धों को रोकने में भी परम सहायक है।

(च) संयुक्त शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति परिषद्—(U. N. E. S. C. O. ) इस संस्था का उद्देश्य युद्ध के मानसिक कारणों को दूर करना है। 'क्योंकि युद्ध मनुष्यों के मस्तिष्कों से प्रारम्भ होते हैं, अतः मनुष्यों के इन्हीं मस्तिष्कों में शान्ति की स्थापना करना'—इस परिषद् का ध्येय है। इस ध्येय की पूर्ति के लिए विश्व के सब राष्ट्रों में शिक्षा प्रणाली को शान्ति के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित करना, विज्ञान को

संहारक मार्ग पर जाने से रोकना तथा एक सार्वभौम संस्कृति को स्थापित करना आवश्यक है। यह परिषद् अपने सदस्य-राष्ट्रों में शिक्षाविज्ञों, विद्वानों एवं वैज्ञानिकों की सहायता से विश्व में शान्ति की एक ऐसी विचार-धारा प्रवाहित करने का प्रयत्न करती है, जिससे परस्पर कलह करने की भावना ही उत्पन्न न हो। इस परिषद् के अधिवेशन समय-समय पर भिन्न-भिन्न देशों में होते रहते हैं। इसका केन्द्रीय कार्यालय पेरिस में है, जहाँ परिषद् के सब बड़े-बड़े अधिकारी निवास करते हैं और निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रयास करते हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य कार्यालय न्यूयार्क नगर में निर्माण किया गया है। सुरक्षा-परिषद् के अधिवेशन प्रायः इसी स्थान पर होते हैं। लगभग ३००० व्यक्ति इस कार्यालय में काम करते हैं। साधारण परिषद्, सुरक्षापरिषद् तथा अन्य परिषदों से स्वीकृत प्रस्तावों को कार्यान्वित करना इसी कार्यालय का कर्तव्य होता है। यह सब कार्य एक प्रमुख अधिकारी ( Secretary-General ) के निरीक्षण में होता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अपने अल्प जीवन-काल में कई अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व-पूर्ण समस्याओं का हल किया है। इसके प्रयत्नों से विश्वशान्ति की स्थापना में अवश्य सहायता मिली है। इसके स्वीकृत किए निश्चयों को निरादर करना और देर तक उसे न मानना किसी सदस्य-राष्ट्र के लिए सम्भव नहीं। संसार के ५६ देशों की आवाज़ को अनसुनी कर देना और मनमानी करते जाना दुराग्रही राष्ट्र को निन्दा एवं बहिष्कार का पात्र बना देता है। अतः संघ के पास सैनिक बल न होते हुए भी नैतिक बल की कमी नहीं, जिसके द्वारा वह किसी भी दुराग्रही देश को नतमस्तक कर सकता है।

**संयुक्त राष्ट्रसंघ का बल**

हमें राष्ट्रसंघ का भविष्य आशाप्रद प्रतीत नहीं होता। संसार के इतिहास के गम्भीर अध्ययन से यही परिणाम निकलता है कि एक महायुद्ध दूसरे महायुद्ध के बीज बो देता है। केवल समय-परिपाक के साथ, उस बीज को अंकु-

**उपसंहार**

रित होना होता है। यदि बिना युद्ध के पाँच दस वर्ष व्यतीत हो जाते हैं, तो इसका कारण यह नहीं कि युद्ध-भावना समाप्त हो चुकी होती है, अपितु, यह कि दोनों पक्षों में युद्ध की पूरी तैयारी अभी नहीं होती। मध्यवर्ती समय केवल इस तैयारी को पूर्ण करने में व्यतीत होता है। जिस समय एक पक्ष अपने को दूसरे से अधिक शक्तिशाली अनुभव करता है, उसी समय वह विश्वयुद्ध की भेरी ताडित कर देता है। विश्व-युद्धों का यह बारम्बार आता हुआ चक्र मनुष्य जाति के लिए किसी उज्ज्वल भविष्य की आशा नहीं दिलाता। हमारी सम्मति में, विश्व राष्ट्र-संघ के प्रयत्न स्तुत्य होते हुए भी, उसकी उद्देश्य-प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकेंगे और उसे अन्त में, उसी मार्ग पर जाना होगा जिस पर प्रथम राष्ट्रसंघ ( League of Nations ) जा चुका है।

---

## १२. एशिया में जागृति

**भूमिका, एशिया और युरोप का सम्पर्क, यूरोप में नवजागरण, एशिया में जागृति, एशिया की वर्तमान अवस्था, उपसंहार**

**भूमिका**

एशिया संसार का सब से बड़ा महाद्वीप है। इसमें अनेक जातियाँ निवास करती हैं, अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं और अनेक धर्मों का प्रभाव पाया जाता है। पूर्व एशिया में मंगोलियन जाति की प्रधानता है, दक्षिण मध्य एशिया में आर्य जाति की एवं पश्चिम एशिया में सेमेटिक जाति का प्राधान्य है। इन जातियों की सभ्यताएँ एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं, जातीय रीति-रिवाज़ और प्रथाओं में कोई समानता नहीं।

एशिया के कई देश जैसे चीन, भारत, ईरान, बेबीलोनिया, सीरिया आदि बहुत पुराने हैं। इनमें ईसा के जन्म से कई सहस्र वर्ष पूर्व सभ्यता का उदय हुआ, जब योरोप में बर्बरता का राज्य था। इन देशों के प्राचीन स्मृति-चिह्न—विशाल स्तूप, मन्दिर, राजप्रासाद, शिलालेख,

मुद्राएँ, हस्तलिखित पुस्तकों आदि के रूप में—अभी तक विद्यमान हैं, जिनसे इन देशों के गौरवमय अतीत का परिचय प्राप्त होता है । भारत में ही मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा से आविष्कृत सिन्धु-सभ्यता की तिथि प्रामाणिक रूप से ३००० ईसा-पूर्व निश्चित की गई है । इस सभ्यता में प्राप्त बड़े-बड़े पक्के मकान, उनकी कलापूर्ण रचना, स्नानागार, नालियाँ, सड़कें, पत्थर की मूर्तियाँ, मट्टी के बर्तन, धातुओं की मुद्राएँ, सोने के सुन्दर आभूषण इत्यादि वस्तुएँ तत्कालीन महान् उत्कर्ष की परिचायक हैं । मेसोपोटेमिया तक इस सिन्धु-सभ्यता के प्रभाव पुरातत्त्व-वेत्ताओं द्वारा स्वीकार किए गए हैं ।

चीन की दीवार, जावा का जगत्प्रसिद्ध बोरोबुदूर मंदिर, निनीवा और बैबिलोन (बावेरु) के खँडहर आज भी संसार के बड़े चमत्कार माने जाते हैं। मध्य एशिया को अब भी सृष्टि का स्रोतः स्थान तथा पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों का सङ्गम स्थान समझा जाता है । इसी एशिया में संसार के बड़े-बड़े धर्मों—हिन्दुत्व, इस्लाम, बुद्धमत तथा ईसाइयत—का उदय माना जाता है । गणित, ज्योतिष, विज्ञान आदि का प्रारम्भ भी एशिया के देशों से स्वीकार किया जाता है । अतः एशिया का प्राचीन महत्त्व सर्वसम्मत है ।

**एशिया और युरोप का सम्पर्क**

युरोप का एशिया के साथ राजनीतिक संबंध सिकन्दर तथा अन्य यूनानी आक्रान्ताओं के आक्रमणों से प्रारम्भ हुआ । इन आक्रान्ताओं ने एशिया के पश्चिमी तथा मध्य भागों को अपनी सेनाओं से पराजित किया और उन पर कुछ काल तक अपना राजनीतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया । भारत में व्यास नदी तक, उत्तर-पश्चिम के अनेक राज्यों को अपने सांस्कृतिक तथा राजनीतिक प्रभाव में लाने में सिकन्दर को सफलता प्राप्त हुई । परन्तु मौर्यसाम्राज्य की बढ़ती हुई शक्ति के सम्मुख उसे सिर झुकाना पड़ा और बिना स्थायी प्रभुत्व स्थापित किए उसे व्यास नदी की सीमा से ही वापस अपने देश यूनान लौट जाना पड़ा ।

सिकन्दर के लौट जाने के बाद भी पश्चिमी एशिया और फिर पश्चिमी भारत पर भी यूनानी अधिकार कई शताब्दियों तक बना रहा।

ईसा की चौथी शताब्दी के अन्त में हूणों ने एशिया के अनेक देशों को पददलित करने के बाद युरोप को भी रौंदा। वे मध्य युरोप तक जा पहुँचे। उन्होंने रोम-साम्राज्य को तहस-नहस कर दिया। अतिला नामक हूण सरदार ने रोम का पूरा पराभव कर उसे लूट लिया। मध्य युरोप के हंगरी ( हुनगारी ) देश को यह नाम हूणों से ही मिला।

आठवीं शताब्दी में अरबों ने स्पेन तक दक्खिनी युरोप जीत लिया। और कई शताब्दियों तक वहाँ उनका अधिकार बना रहा। भूमध्य-सागर का पश्चिमी द्वार अरब सेनापति जब्रुल तारिक के नाम पर जिब्राल्टर कहलाया।

ग्यारहवीं शताब्दी में सेलजुक तुर्कों ने युरोप की ओर बढ़ना शुरू किया। मुसलमान एशियाई तुर्कों के साथ युरोप के ईसाई राष्ट्रों के धर्मयुद्ध दो-तीन शताब्दियों तक होते रहे।

तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में चंगेज़ खान ने मंगोल साम्राज्य रूस, बलगेरिया और हंगरी के अन्दर तक पहुँचा दिया। तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक सम्राट् कुबलैखान ने मंगोल साम्राज्य को पूर्व में दक्खिनी चीन सागर से पश्चिम में बाल्तिक सागर तक पहुँचा दिया।

मध्ययुग में पूर्व और पश्चिम की सभ्यताएँ जब निश्चेष्ट और मन्द हो चुकी थीं तब मंगोलों ने मानो उन्हें मथ कर उनमें गति और जीवन पैदा किया।

पंद्रहवीं शताब्दी के अन्त में रूस ने मंगोलों को निकाल दिया।

पन्द्रहवीं शताब्दी में औटोमन तुर्कों ने दक्षिण-पूर्वी युरोप को जीता। सोलहवीं शताब्दी में तुर्क साम्राज्य हंगरी-पौलैंड तक पहुँच गया। धीरे-धीरे इस साम्राज्य की पश्चिमी सीमा संकुचित होती गई।

प्राचीन काल से यूनान, चीन और भारत संसार में ज्ञान के केन्द्र रहे। गुप्तयुग में भारत में ज्ञान की खूब उन्नति हुई। परन्तु उसके बाद

संसार में ज्ञान की प्रगति प्रायः रुक-सी गई। युरोप तो अज्ञान की नींद में पड़ा ही था, एशिया में भी मोह-निद्रा छा गई।

मध्ययुग में भारत और चीन का ज्ञान पहले अरबों और फिर मंगोलों द्वारा युरोप पहुँचा। १४५३ ई० में तुर्कों के कुस्तुन्तुनियाँ ले लेने पर प्राचीन यूनानी विद्याओं के बहुत से विद्वान् भाग कर युरोप पहुँचे। भारत, चीन और यूनान के ज्ञान से युरोप के तरुण राष्ट्रों में ज्ञान और जागृति की नई लहर दौड़ गई। जागृति के इस नये जोश में उन्होंने नये-नये आविष्कार करना और नये-नये देश खोजना शुरू किया। युरोप ने इस नये ज्ञान द्वारा बहुत जल्दी संसार की काया पलट दी। संसार में नया युग आया। इस नये युग को लाने में तीन वस्तुओं के ज्ञान का विशेष प्रभाव हुआ। एक नाविकों के दिग्दर्शक यन्त्र का, दूसरे बारूद का, और तीसरे पुस्तकें छापने की कला का। बारूद पहले चीन में बना था, वहाँ से मंगोलों द्वारा तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में युरोप पहुँचा। कागज़ बनाने और लकड़ी के ठप्पों से कागज़ पर छापने की कला का आविष्कार भी पहले चीन में हुआ। अरब वालों ने चीन से ये विद्याएँ सीख कर युरोप में पहुँचाईं। १४५४-५६ में जर्मनी के विद्वान् गुट्टनबर्ग ने सीसे के टाइप से छापने की कला का आविष्कार किया।

**युरोप में नवजागरण**

ईसा से एक शताब्दी पहले से भारत का जल-पथ द्वारा यूरोप से व्यापार आरंभ हो गया था। आठवीं शताब्दी में अरबों के स्पेन तक जीत लेने पर यह सीधा व्यापार-संबंध टूट गया। १५वीं शताब्दी में भारत से सीधा व्यापार-संबंध स्थापित करने के लिए पुर्तगाली अफरीका का चक्कर लगा कर भारत पहुँचने का प्रयत्न करने लगे और शताब्दी के अंत में वास्को-द-गामा उस प्रयत्न में सफल हो कर भारत आ पहुँचा। इधर कोलंबस ने पुराने यूनानी विद्वानों के इस विचार से कि ज़मीन गोल है यह परिणाम निकाला कि युरोप से लगातार पश्चिम जा कर भी भारत पहुँचा जा सकता है। इस प्रयत्न में उसने अमरीका को खोज निकाला।

जब युरोप के तरुण राष्ट्र ज्ञान और जागृति की इस प्रगति में एक दूसरे से होड़ कर रहे थे, एशिया के देश मोह-निद्रा में अचेत पड़े रहे। युरोपी राष्ट्र 'विश्व पर युरोप के प्रभुत्व' के स्वप्न देखने लगे। अगली दो-तीन शताब्दियों में उन्होंने न केवल युरोप से एशिया वालों को मार भगाया, प्रत्युत अफरीका, अमरीका और आस्ट्रेलिया तीन महादेशों पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लिया तथा एशिया के प्रायः सभी राष्ट्रों को पराभूत कर अपने अधिकार में ले लिया और यहाँ की अतुल संपत्ति को लूटने लगे। बच रहा केवल जापान। १९वीं शताब्दी के मध्य में अमरीका ने जापान पर गोला-बारी की। चोट खा कर जापान ने पश्चिम के नये ज्ञान को अपनाने की आवश्यकता अनुभव की और अपनी समस्त शक्ति उस ओर लगा दी।

**एशिया में जागृति**

अँगरेज़ों से युद्ध में बार बार पराजित होने पर पहले रघुनाथ हरि और फिर स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय आदि भारत के विचार-नेताओं ने भी युरोप के ज्ञान को अपनाने की आवश्यकता अनुभव की। स्वामी दयानन्द के शिष्य महात्मा मुंशीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) द्वारा गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना उसी दिशा में उठाया एक पग था। इसी प्रकार चीन भी युरोप की ठोकर खा कर उठा। १९०४-५ में जब जापान ने रूस को पछाड़ दिया तो एशिया भर में जागृति और आत्मविश्वास की लहर दौड़ गई और एशिया के राष्ट्र युरोप की दासता से मुक्त होने को छटपटाने लगे।

प्रथम महायुद्ध के बाद तुर्कों ने मुस्तफा कमाल के नेतृत्व में युरोपियों को मार भगाया। इंग्लैंड फिर भी भारतीय सेना के ज़ोर पर एशिया में अपना साम्राज्य बनाये रहा। द्वितीय महायुद्ध आरंभ होने पर जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया से युरोपी राष्ट्रों को खदेड़ दिया। यद्यपि अन्त में जापान को परास्त होना पड़ा, फिर भी द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने पर पूर्वी एशिया से युरोप का प्रभुत्व प्रायः उठ गया।

मलाया और हिन्दचीन आदि में, जहाँ अभी युरोपी राष्ट्रों का अधिकार बाकी है, वहाँ के निवासी स्वाधीनता के लिए जी-जान से लड़ रहे हैं। एशिया की इस जागृति में चीन सब से आगे निकल गया। चीन ने न केवल राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त की है, प्रत्युत वह आर्थिक और सामरिक दृष्टि से भी अपने पैरों पर खड़ा हो गया है और सारे युरोपी राष्ट्रों और अमरीका से अकेला लोहा ले रहा है।

इंग्लैंड भारतीय सेना के ज़ोर से ईरान मिस्र आदि पश्चिमी एशियाई और अफरीकी देशों को भी दबाये हुए था। अब वह ज़ोर टूट गया है। डा० मुसद्दीक के नेतृत्व में ईरान और जनरल नगीब के नेतृत्व में मिस्र उठ खड़ा हुआ है।

एशिया से युरोप का राजनीतिक प्रभुत्व तो उठ ही गया है; आर्थिक प्रभुत्व भी उठता जा रहा है। इस दिशा में अभी पर्याप्त जागृति नहीं हुई। अभी तक केवल चीन और ईरान ही युरोप के आर्थिक प्रभुत्व से मुक्त हो पाये हैं। आर्थिक क्षेत्र में एशिया को न केवल युरोप के प्रभाव से मुक्त होना है, प्रत्युत अमरीका के द्रुतगति से फैलते हुए डालर-साम्राज्य से भी अपनी रक्षा करनी है।

**एशिया की वर्तमान अवस्था**

उद्योग-धन्धों में भी अभी तक एशिया में केवल चीन ही स्वावलंबी राष्ट्र है। जापान द्वितीय महायुद्ध से पहले सब दृष्टियों से स्वावलंबी था। ईरान में तेल पैदा होता है, परन्तु अभी तक ईरान के पास तेल ढोने को अपने जहाज नहीं हैं। इसके अतिरिक्त चीन और जापान के अतिरिक्त कोई भी एशियाई राष्ट्र अभी तक मशीनें नहीं बनाने लगा। सभी को मशीनें युरोप और अमरीका से मँगवानी पड़ती हैं।

सामरिक दृष्टि से भी एशिया के राष्ट्र अभी तक युरोप पर निर्भर हैं। चीन और जापान के अतिरिक्त कोई भी राष्ट्र अभी तक आधुनिक युग के शस्त्रास्त्र, जहाज, विमान आदि नहीं बनाने लगा। युद्ध के लिए आवश्यक समस्त सामान के लिए प्रायः सभी एशियाई राष्ट्र

युरोप और अमरीका का मुँह देखते हैं । और जब तक युद्ध-सामग्री निर्माण करने में कोई देश स्वावलंबी न हो, उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं है । आज किसी राष्ट्र की सामरिक शक्ति उसकी उत्पादन-शक्ति से मापी जाती है। एशिया के समुद्रों और जल-पथों पर भी युरोप और अमरीका का अधिकार है । इस दृष्टि से चीन भी अभी तक पूर्णरूप से स्वाधीन नहीं है । और जब तक अपने समुद्र और जल-पथों पर किसी देश का पूर्ण स्वामित्व न हो, तब तक वह आयात-निर्यात और व्यापार-व्यवसाय में भी स्वावलंबी नहीं हो सकता ।

यद्यपि एशिया के अधिकांश राष्ट्र युरोप की राजनीतिक दासता से स्वतन्त्र हो चुके हैं, वे अभी तक अनेक दृष्टियों से युरोप के आश्रित हैं । नये युग के समस्त ज्ञान-विज्ञान को हृदयंगम करके एशिया के राष्ट्रों को पूर्ण उद्योगीकरण द्वारा प्रत्येक पहलू से स्वावलंबी होना है; तभी एशिया वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त कर सकेगा और तभी विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है ।

**उपसंहार**

---

## १३. स्वतन्त्र भारत में अंग्रेज़ी का स्थान

**भूमिका, अंग्रेज़ी का महत्त्व, हमारी शिक्षा-प्रणाली में इसका उचित स्थान, व्यवहार में उचित स्थान, उपसंहार,**

भारत में अंग्रेज़ों का लगभग डेढ़ सौ वर्ष राज्य रहा । उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षा-प्रणाली को इस देश में प्रचलित किया । सरकारी सदस्य मेकाले के परामर्श पर इस शिक्षाप्रणाली में अंग्रेज़ी भाषा को न केवल बाधित विषय बनाया गया, परन्तु उसे समस्त शिक्षा का माध्यम भी निश्चित किया गया । प्रान्तों के बड़े-बड़े नगरों में, प्राईमरी स्कूल से ले कर यूनीवर्सिटी

**भूमिका**

की अन्तिम परीक्षा तक, अंग्रेजी भाषा को विचाराभिव्यक्ति का साधन नियत किया गया।

जातीयता की जागृति के साथ, प्रारम्भिक शिक्षा में अंग्रेज़ी भाषा का माध्यम शनैः शनैः मिटा दिया गया, परन्तु माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा का माध्यम, यह बहुत देर तक रहा। अब भी, जब अंग्रेज़ इस देश से जा चुके हैं, अंग्रेज़ी हमारी उच्चशिक्षा का माध्यम ज्यों की त्यों बनी हुई है। शिक्षा-प्रणाली के अतिरिक्त अभी तक अंग्रेज़ी राजकीय कार्यों, विधान-सभाओं, सर्वदेशीय सम्मेलनों, रेलवे, डाकखाना, इन्कम-टेक्स-दफ्तरों, राशनकार्यालयों आदि का माध्यम वैसे ही रूप में है, जैसे वह अंग्रेज़ी राज्य के समय में थी। बैंकों, बीमा कंपनियों, व्यवसाय और व्यापार-केन्द्रों आदि में भी अंग्रेजी भाषा का व्यवहार, यथापूर्व, कायम है।

महात्मा गाँधी ने अंग्रेज़ी शिक्षा से उत्पन्न इस मानसिक दासता की चर्चा करते हुए कहा था—"यह मेरी निश्चित सम्मति है कि अंग्रेज़ी शिक्षा ने भारत के शिक्षितवर्ग को पुंस्त्व-हीन और उन्हें प्रत्येक दिशा में पश्चिमीय सभ्यता का अनुकरण करने वाला बना दिया है। इसने भारत के छात्रों की मानसिक उन्नति को कुंठित कर दिया है और उन्हें पाश्चात्य विचारों, वेशभूषा एवं संस्कृति का गुलाम बना डाला है। ऐसी अंग्रेज़ी शिक्षा के शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर देने में ही देश का कल्याण है।"

फिर भी, कुछ अंश तक हमें अंग्रेज़ी का महत्त्व स्वीकार करना होगा। यह आज विश्वसंस्कृति ( world culture ) की भाषा बन चुकी है।

**अंग्रेजी का महत्त्व**

संसार का अधिकतम साहित्य इसी भाषा में उत्पन्न हो रहा है। विज्ञान के नए-नए आविष्कार इसी भाषा द्वारा प्रसारित किए जा रहे हैं। संसार के अधिकतम देशों की बोलचाल की भाषा भी अंग्रेज़ी है। अन्तर्जातीय व्यापार-क्षेत्र में भी अंग्रेज़ी भाषा का प्राधान्य है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भी अंग्रेज़ी को अधिकतम देशों के प्रतिनिधियों द्वारा समझा जाता है। अतः, इसे

सर्वथा उपेक्षित नहीं किया जा सकता। अंग्रेज़ी का सर्वथा बहिष्कार बड़ी अदूरदर्शिता होगी।

हमें अंग्रेज़ी राज्य का अभिशाप स्मरण करते हुए भी, अंग्रेजी भाषा के साहित्य तथा विज्ञान का निरादर न करना चाहिए। इसी दृष्टि-कोण से महात्मा गाँधीजी को पुनः अन्यत्र लिखना पड़ा था, कि—"अंग्रेज़ी अन्तर्जातीय व्यापार की भाषा है। वह विदेश-दूतावासों में व्यवहार के लिए उपयोगी साधन है। इसमें प्रगतिशील साहित्य का भण्डार पाया जाता है। इसके द्वारा पश्चिमी विचारों और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अतः भारत के कुछ शिक्षित-वर्ग के लिए इस भाषा का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। वे देश के विदेश-सम्बन्धों का संचालन कर सकते हैं और जाति तक पाश्चात्य विज्ञान तथा साहित्य का ज्ञान पहुँचा सकते हैं। यह अंग्रेज़ी का उचित प्रयोग होगा।"

प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने भी अंग्रेज़ी के सम्बन्ध में ऐसे ही विचारों का प्रकाश इन शब्दों में किया—"कई लोग समझते हैं कि अंग्रेज़ी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाया जा सकता है। यह सर्वथा भ्रममूलक विचार है। कुछ मध्यमश्रेणी के शिक्षितवर्ग को छोड़कर इस भाषा को सर्वसाधारण जनता की भाषा नहीं बनाया जा सकता। यह ठीक है कि अंग्रेज़ी, जैसा अब भी है, अधिकाधिक विज्ञान, व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की भाषा बनेगी और इस रूप में इसका भारत में प्रयोग बना रहेगा।"

अतः अंग्रेज़ी को अपने देश की शिक्षा-प्रणाली में परिमित स्थान देना आवश्यक ही है। इसे सर्वथा निकाल देना अहितकर होगा।

**अंग्रेजी का हमारी शिक्षा-प्रणाली में स्थान**

मातृभाषा तथा राष्ट्रभाषा की प्रधानता रखते हुए, इसे ऐच्छिक विषय के रूप में रखे रखना अनुचित न होगा। जो विद्यार्थी अपने जीवन में विज्ञान का विशेष अनुशीलन करना चाहें, विदेश सेवा-विभाग में जाना चाहें, अन्तर्जातीय व्यापार द्वारा धनोपार्जन करना चाहें अथवा

साहित्य का व्यापक परिचय प्राप्त करना चाहें, उनके लिए अंग्रेज़ी शिक्षण की सुविधा देना आवश्यक ही है।

ऐसा स्वीकार करते हुए भी अंग्रेज़ी को विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम बनाए रखना देश के लिए घातक होगा। भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास के लिए आवश्यक है कि हम अंग्रेज़ी भाषा पर आश्रित न रहें। संसार की सब प्रगतिशील भाषाओं का साहित्य हिन्दी में अनूदित किया जा सकता है और उसके द्वारा उच्चतम शिक्षा दी जा सकती है। केवल परिमित समय के लिए ही अंग्रेज़ी को विज्ञान आदि का माध्यम बनाए रखा जा सकता है। परन्तु शीघ्र ही उसका स्थान हिन्दी को लेना होगा। इस दिशा में विश्वविद्यालयों तथा केन्द्र एवं राज्य की सरकारों को अभी से प्रयत्न प्रारंभ कर देना चाहिए।

**अंग्रेज़ी का व्यवहार में स्थान**

अंग्रेज़ी का हमारे दैनन्दिन व्यवहार में अभी तक घुसे रहना, वस्तुतः लज्जा का विषय है। स्वतन्त्रता के बाद यह सब समाप्त हो जाना चाहिए था। हमारा दैनिक व्यवहार अपनी राज्यभाषा अथवा राष्ट्रभाषा में ही होना चाहिए। बोलचाल में अपनी भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए। दफ्तरों, बैंकों, रेल, तार-विभागों, दुकानों आदि पर भी अपनी भाषा में ही सब हिसाब, विवरण, पत्र-व्यवहार रखने आदि की व्यवस्था होनी चाहिए। अंग्रेज़ी को अधिक देर तक जातीय जीवन का अंग बनाए रखना अपनी मानसिक दासता की ही द्योतक होगा। अंग्रेज़ी को शीघ्रातिशीघ्र अपने दैनन्दिन व्यवहार से निकाल देना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी में स्वदेश-गौरव की रक्षा है।

अंग्रेज़ी भाषा की महत्ता स्वीकार करते हुए, हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि इस का सर्वथा बहिष्कार तो नहीं करना चाहिए। अंग्रेज़ी

**उपसंहार**

राज्य की कटु स्मृतियों के वश में आ कर हमें किसी भाषा वा साहित्य का निरादर नहीं कर देना चाहिए। वस्तुतः भाषा और साहित्य किसी विशेष देश वा जाति

की केवल निजी सम्पत्ति नहीं होती। वे तो अखिल विश्व की विभूतियाँ होती हैं, जिनसे कोई भी देश वा जाति प्रकाश प्राप्त कर सकती है। भारत ने पराधीनता की बेड़ियों को तोड़ डाला है। अब हम अंग्रेज़ों के राजनीतिक रूप से दास नहीं। आज हम उनके समान स्वतन्त्र हैं। हम समान रूप से जहाँ व्यापारिक वस्तुओं का परस्पर विनिमय कर सकते हैं, वहाँ विद्या, विज्ञान, भाषा और साहित्य का भी परस्पर विनिमय कर सकते हैं। स्व-भाषा और स्वाभिमान की रक्षा करते हुए, हमें परिमित अंश तक अंग्रेज़ी को अपनाने तथा उसका यथोचित व्यवहार करने में संकोच न करना चाहिए। अपनी शिक्षा-प्रणाली में भी अंग्रेज़ी को ऐच्छिक विषय का स्थान देने में भय न करना चाहिए। इससे भारत का अकल्याण नहीं हो सकता—अपितु, इसके विपरीत भलाई ही हो सकती है।

---

## १४. काश्मीर-समस्या

**भूमिका, काश्मीर-समस्या का महत्त्व, काश्मीर-समस्या संयुक्त राष्ट्रसंघ में, समस्या का हल, उपसंहार।**

**भूमिका**

१५ अगस्त १९४७ को विभाजन के साथ भारत जब ब्रिटिश शासन से स्वतन्त्र हुआ, तब देसी रियासतों को पाकिस्तान वा भारत में सम्मिलित होने अथवा सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता रखने की छूट दी गई। भारतान्तर्गत लगभग ६०० रियासतों ने भारत में सम्मिलित होने का निश्चय किया। केवल दो बड़ी-बड़ी रियासतों—हैदराबाद और काश्मीर—ने निर्णय करने में देर कर दी। काश्मीर के हिन्दू महाराजा हरिसिंह सम्भवतः पूर्ण रूप से स्वतन्त्र रहने का स्वप्न देखते थे। उन्होंने अपनी अदूरदर्शिता के कारण भारत में सम्मिलत होने के स्वीकृति-पत्र पर हस्ताक्षर न किया।

इस बीच में पाकिस्तान ने अंग्रेज़ों तथा अमरीकन लोगों की प्रेरणा से बलपूर्वक काश्मीर को अपने में सम्मिलित करने का निश्चय किया।

संसार के सम्मुख स्वयं आक्रान्ता (Aggressor) प्रसिद्ध न होने के लिए उसने सितंबर १६४७ में अपनी उच्छृङ्खल कबायली जाति द्वारा काश्मीर पर आक्रमण करा दिया। वे तीव्रता से काश्मीर में प्रविष्ट होकर आगे बढ़ने लगे और थोड़े ही दिनों में बारामूला तक पहुँच गए। अब काश्मीर के महाराजा की आँखें खुलीं और उसने अक्तूबर २४, १६४७ को भारत सरकार से भारत में सम्मिलित होने की प्रार्थना की और सेना की सहायता माँगी। अक्तूबर २६ को, महाराजा ने स्वीकृति-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। काश्मीर की रक्षा करना, अब भारत सरकार का उत्तरदायित्व हो गया और उसने हवाई जहाजों द्वारा श्रीनगर में सैनिक सहायता पहुँचानी शुरू की। यदि एक दिन की भी देरी हो गई होती तो श्रीनगर का हवाई अड्डा कबायलियों के हाथ में आ जाता और काश्मीर को सैनिक सहायता पहुँचाना कठिन हो जाता। भारतीय सेना ने पहुँचने के साथ ही शत्रु को काश्मीर से खदेड़ना प्रारम्भ कर दिया और थोड़े ही समय में उन्होंने उरी तक अपना पुनः अधिकार स्थापित कर लिया। युद्ध के मैदान में पाकिस्तान के सिपाही तथा अंग्रेज़ आफिसर भी लड़ते हुए देखे गए।

**काश्मीर-समस्या का महत्त्व**

यदि पाकिस्तान ने काश्मीर पर हमला किया तो यह भारत पर हमला था। भारत के लिए पाकिस्तानी सेनाओं को काश्मीर से बाहर निकाल देना सर्वथा उचित था। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करके पाकिस्तान ने यह हमला किया था—अतः आक्रान्ता को बाहर निकाल कर ही शान्ति लेना हमारे सैनिकों का कर्तव्य था। पाकिस्तान तलवार के ज़ोर से काश्मीर को लेना चाहता था, अतः तलवार का जवाब तलवार से ही देना आवश्यक था।

परन्तु पं० जवाहरलाल ने भारत की शान्तिप्रिय नीति तथा सभ्य जातियों के व्यवहार का अनुसरण करते हुए पाकिस्तान का अन्याय-पूर्ण आक्रमण संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख निर्णय के लिए उपस्थित कर दिया। ऐसा करते हुए उन्होंने यह भी घोषणा साथ ही की कि भारत काश्मीर

पर काश्मीरियों की इच्छा के विरुद्ध कदापि अपना प्रभुत्व स्थापित न रखेगा। काश्मीर से पाकिस्तानी सेनाओं के सर्वथा निकल जाने पर, और काश्मीर छोड़ कर चले गए शरणार्थियों के पुनः अपने-अपने स्थानों पर बस जाने पर, साधारण अवस्थाओं में जनमत ( Plebiscite ) लेने का आयोजन किया जाएगा, जिसमें काश्मीरी जनता भारत में सम्मिलित रहने या उससे पृथक् हो जाने के सम्बन्ध में अपनी राय प्रकट करेगी। परन्तु किसी अन्य देश द्वारा बलात् उसे अपने में मिलाने का भारत सशस्त्र विरोध करेगा और ऐसा कभी न होने देगा।

**काश्मीर समस्या संयुक्त राष्ट्रसंघ में**

सयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-परिषद् में महीनों तक काश्मीर-समस्या पर विचार किया गया। भारत के प्रतिनिधि ने बार बार सुरक्षा-परिषद् से इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार करने को कहा कि पाकिस्तान आक्रान्ता ( Aggressor ) देश है और उसे तुरन्त अपनी सेनाएँ काश्मीर से हटा लेनी चाहिएँ। परन्तु सुरक्षा-परिषद् के अंग्रेज़ तथा अमरीकन सदस्यों ने उक्त घोषणा को न होने दिया। इस बीच में आस्ट्रेलिया के ६१ वर्षीय विधान-वेत्ता सर ओवन डिक्सन को मध्यस्थ बना कर परस्पर समझौता कराने के लिए भेजा गया। उन्होंने स्थान पर जा कर समस्या का अध्ययन किया और निष्पक्ष रूप से अपना मत प्रकाशित किया कि पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण करके अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भंग किया है। परन्तु सुरक्षा-परिषद् ने फिर भी उसे आक्रान्ता घोषित न किया।

अमरीका के प्रसिद्ध लेखक तथा पत्रकार लुइस फिशर ने उस समय कहा था—"संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कोरिया के सम्बन्ध में जो कुछ किया, वही काश्मीर के सम्बन्ध में किया जाना आवश्यक था। उत्तर कोरिया को आक्रान्ता घोषित करके उसके विरुद्ध सेनाओं को भेजा गया। उसी तरह पाकिस्तान के सम्बन्ध में करना उचित था।"

भारत जनमत कराए जाने की घोषणा कर चुका है और जनमत

अवश्य कराया जाएगा। काश्मीरियों को उनकी इच्छानुसार ही भारत में रखा जाएगा—उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें कदापि बलपूर्वक अपने में न मिलाया जाएगा। इसी कार्य के लिए वहाँ संविधान-सभा को जनमत से निर्वाचित कराया गया है और इस सभा द्वारा भारत में सम्मिलित होने का निश्चय किया जा चुका है।

**समस्या का हल**

भारत धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र है। इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि सब धर्मों के लोग, राष्ट्र के हस्तक्षेप वा पक्षपात के बिना, अपनी-अपनी धार्मिक भावनाओं के पालन, आचरण अथवा प्रचार करने में स्वाधीन हैं। काश्मीर के मुसलमान तो कुल ५० लाख ही हैं—भारत में अन्य ४ करोड़ मुसलमान भी पूर्ण स्वतन्त्रता से निवास करते हैं। उन्हें भारत में रहते हुए किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं हो सकता। उनके साथ समानता और न्याय का व्यवहार वैसा ही किया जाएगा, जैसा अन्य नागरिकों के साथ किया जाएगा।

संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने तत्त्वावधान में जनमत कराने का आग्रह कर रहा है। उसे भी स्वीकार करने में हमें कोई संकोच नहीं—परन्तु जनमत कराने से पूर्व पाकिस्तानी सेनाओं का समूचे काश्मीर को छोड़ कर चला जाना अत्यन्त आवश्यक है। इसी शर्त को भारत के प्रधान मन्त्री ने शुरू-शुरू में उपस्थित किया था और उसके पूरा हुए बिना कोई जनमत नहीं कराया जा सकता। संयुक्त राष्ट्रसंघ के नवीन प्रतिनिधि डाक्टर ग्राहम इस दिशा में प्रयत्न भी कर चुके हैं, परन्तु उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। ऐसी अवस्था में जनमत न होने का दोष सरासर पाकिस्तान पर ही है।

भारत काश्मीर को बिना जनमत द्वारा इच्छा प्रकट किए, पाकिस्तान में कदापि सम्मिलित न होने देगा। उसे बलात् पृथक् करने की किसी देश में शक्ति नहीं। बल का प्रयोग करने वालों के साथ बल का ही प्रयोग किया जाएगा। शान्ति-मार्ग का अनुसरण करने वालों के साथ, शान्ति द्वारा विचार-विनिमय

**उपसंहार**

**युद्धों के कारण**

इस निरन्तर होने वाले युद्ध के मूल कारण कौन से हैं ? क्यों मनुष्य शान्ति-पूर्वक जीवन नहीं बिताना चाहता ? उसकी प्रकृति में कौन-सा ऐसा दोष है, जिसके कारण उसे मनुष्यता का त्याग करके दानव का रूप धारण करना पड़ता है ?

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य-प्रकृति के विश्लेषण से यह देखा गया है कि उसकी सबसे बड़ी निर्बलता लोभ और स्वार्थ की जघन्य वासना है। मनुष्य स्वभाव से धन-संचय में लिप्त है, शक्ति-संग्रह में व्यस्त है, आत्मम्भरिता की पूर्ति में व्यग्र है। उसकी महत्त्वाकांक्षाओं का कोई अन्त नहीं, वह तारामंडल तक अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है, विश्व की समस्त सम्पत्ति का स्वामी बनना चाहता है और लालसाओं की तृप्ति में संसार के अन्य सब प्राणियों को तुच्छ समझ कर, उनके अधिकारों और स्वत्वों को पददलित करते हुए, आगे बढ़ना चाहता है।

मनुष्य की इस लोभ और स्वार्थभावना के परिणाम, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद हैं। इसी पूँजीवाद से उत्पन्न भयङ्कर विषमता सामान्य जन के तीव्र असन्तोष का कारण बनती है, जो अन्त में अनिवार्य रूप से रक्तरञ्जित क्रान्ति में परिणत होती है। समाज में वर्गों का संघर्ष युद्धों का, अशान्ति का कारण बनता है। जब तक इस वर्ग-संघर्ष को समाप्त नहीं किया जाएगा—संसार में युद्धों की समाप्ति नहीं हो सकती। भिन्न-भिन्न देशों की आर्थिक उन्नति की विषमता उन देशों में द्वेष और वैमनस्य का कारण बनती है और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों और सग्रामों का प्रारम्भ कराने वाली होती है। वर्तमान समय में ये आर्थिक संघर्ष स्पष्ट रूप से महायुद्धों के आधारभूत कारण दिखाई दे रहे हैं।

साम्राज्यवाद की लालसा में धन का लोभ इतना हेतु नहीं होता जितना शक्ति का लोभ। आजकल के संकीर्ण राष्ट्रीयता के युग में प्रत्येक राष्ट्र अपने को संसार का सर्वोत्कृष्ट जन-समुदाय मानता है और अपनी राजनीतिक समृद्धि के लिए शेष समस्त जातियों के अहित करने

के लिए सदा उद्यत रहता है। इंग्लैंड जैसे छोटे से देश ने तलवार के ज़ोर से निर्बल जातियों पर आक्रमण करके उन्हें अपने प्रभुत्व में रखा और उनकी स्वतन्त्रता हरण द्वारा एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने में अपना गौरव माना। इस साम्राज्य-स्थापना के लिए उसने अत्याचार, धोखा, झूठ, मक्कारी आदि करने में कोई कसर न रखी। केवल साम्राज्य-विस्तार को ही लक्ष्य बना कर उसने सब उचित, अनुचित साधनों का प्रयोग किया और उस लालसा को तृप्त किया, जिसमें उसे यह डींग मारने की आत्मसन्तुष्टि प्राप्त हुई, कि "ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता।"

ब्रिटिश साम्राज्य का अनुकरण कर के, पहले फ्रांस ने और फिर जर्मनी ने भी वैसे ही साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा की। दोनों देशों ने परस्पर संघर्ष किया—इंग्लैंड से भी युद्ध किए और योरोप को निरन्तर रक्त-प्रवाह का अखाड़ा बना दिया। जर्मनी को गत दोनों महायुद्धों में पराजय का मुख देखना पड़ा और उसे आज निःसत्व बना कर धराशायी कर दिया गया है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद से साम्राज्यवाद की भावना अमरीका और रूस में घर कर गई है। अब इन दो महाशक्तियों में निरन्तर संघर्ष जारी है, जिसका अनिवार्य परिणाम तीसरा महायुद्ध है—जो किसी भी समय शुरू हो सकता है।

प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेंड रसल ने उपर्युक्त पूँजीवाद तथा साम्राज्य-वाद के दो मौलिक कारणों के अतिरिक्त एक मनोवैज्ञानिक कारण का संकेत किया है, जो उसकी सम्मति में वर्तमान युद्धों का निकटतम कारण बन रहा है—"यह सार्वत्रिक भय कि दूसरा देश युद्ध करने के लिए उद्यत हो रहा है--युद्ध को अनिवार्य बना देता है। युद्ध के भय से राष्ट्र में बाधित सैनिक शिक्षा, बाधित सेना-भर्ती और शस्त्रास्त्रों का संग्रह प्रारम्भ कर दिया जाता है। इन सब से युद्ध का भय भी तीव्र हो जाता है और यह भय युद्ध करा कर ही शान्त होता है।"

योरोप के इतिहास में शक्ति के समतुलन (Balance of power) का विशेष महत्त्व है। किसी देश ने जब भी किसी अन्य देश को—चाहे वह अपना मित्र क्यों न हो—अपने से अधिक शक्तिशाली होते देखा, उससे शत्रुता प्रारम्भ कर दी और उसे महत्त्वाकांक्षा से गिरा कर ही चैन ली। इस शक्ति-समतुलन का आधार परस्पर भय के अतिरिक्त और कुछ न था। इस भय ने संसार में कितने ही रक्तरंजित युद्धों का सूत्रपात कराया।

जर्मनी में एक ऐसी विचार-धारा भी चली, जिसने युद्धों को मनुष्य-समाज के विकास में आवश्यक तत्त्व बतला कर उसे निन्दित न कह कर, प्रशंसा का पात्र बनाया। इससे युद्ध की भावना और भी प्रदीप्त हो उठी और गत महायुद्धों का इसी से प्रारम्भ हुआ। प्रसिद्ध दार्शनिक हेगल ने 'युद्ध को मानवीय प्रकृति का उत्कृष्टतम प्रकाश' कहा। फीश्टे और ट्रीट्स्के ने इसे जातीय जीवन में वीरता, निर्भीकता, प्रगति-शीलता आदि उत्तम नैतिक तत्त्वों के उत्पन्न करने का साधन बतलाया। उनकी सम्मति में अधिक देर की शान्ति से जातियाँ निर्बल और नपुंसक बन जाती हैं। देश-प्रेम, आत्म-सम्मान, जाति-गौरव की उदात्त भावनाएँ युद्धों द्वारा ही उत्पन्न होती है और उनके अन्त कर देने से इन भावनाओं का भी लोप हो जाएगा। ऐसी युद्धोत्तेजक विचार-धाराओं ने संसार में साधारणतया और योरोप में विशेषतया युद्धों की निरन्तरता को कायम रखा।

युद्धों का निवारण युद्धों के उपर्युक्त कारणों के निवारण से ही हो सकता है। यदि हम रोग के निदानों को दूर कर दें तो रोग स्वयं निवृत्त हो जाता है। युद्ध के प्रथम मूल कारण पूँजीवाद को समाप्त करने का एक मात्र उपाय समाजवाद है। प्रत्येक देश में इसकी स्थापना की आवश्यकता है। इसकी स्थापना से धन की विषमता समाप्त होगी और वर्गों में बढ़ता हुआ संघर्ष भी समाप्त होगा। आज के पूँजीवादी धनाढ्य देश—

**युद्धों के निवारण के उपाय**

अमरीका, इंग्लैंड आदि अन्य निर्बल देशों पर अत्याचार करके, उनका शोषण करके ही धनाढ्य बन सके हैं। समाजवाद के अनुसार शोषण का अन्त होगा और प्रत्येक देश प्रकृतिप्रदत्त साधनों द्वारा आत्मपर्याप्त होने का यत्न करेगा और उसे दूसरे देशों में मंडियाँ प्राप्त करने के लिए अथवा कच्चा माल लेने के लिए अनाचार और बल का प्रयोग न करना होगा।

साम्राज्यवाद का अन्त प्रत्येक राष्ट्र के स्वाधीन हो जाने में है। एटलांटिक चार्टर के अनुसार किसी भी राष्ट्र का अन्य देश को अपने अधीन रखना वर्जित है—यह अन्तर्राष्ट्रीय नियम का उल्लंघन है। प्रत्येक जाति को अपनी जातीय प्रेरणाओं और मर्यादाओं के अनुसार विकास करने का स्वयंसिद्ध अधिकार है। एतदर्थ, उसका अपना शासन होना नितान्त अपेक्षित है। किसी भी अन्य जाति को उसके जीवन-विकास में हस्तक्षेप करना और सहायता देने की आड़ में उसे कुंठित करना उपर्युक्त चार्टर के सर्वथा विरुद्ध है। इसी स्वतन्त्रता की स्थापना करना संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक उद्देश्य है। द्वितीय महायुद्ध के बाद साम्राज्यवादी देशों को चार्टर के इसी उद्देश्य के अनुसार अपने कई पराधीन देशों को मुक्त कर देना पड़ा है और उनके परस्पर संघर्षों का भी अन्त हुआ है।

युद्धों के मनोवैज्ञानिक कारण—भय पर—भी विजय प्राप्त करना होगा। इसे परस्पर विश्वास से ही दूर किया जा सकता है। दूसरे देश के पास अणुबम होने का भय—अन्य देशों को भी अणुबम तैयार करने और उसपर देश का असंख्य धन नष्ट कर देने के लिए प्रेरित करने वाला होता है। इस में कुछ तथ्य अवश्य है कि यह परस्पर भय युद्धों के रोके रखने का भी कारण बनता है, परन्तु ऐसा रोका जाना अस्थायी काल के लिए होता है। जातियों का परस्पर बढ़ता हुआ अविश्वास और भय, अन्त में, महायुद्ध में ही परिणत होता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा निरीक्षण होने पर अल्पतम आवश्यक सेनाओं और सेना-सामग्री के अतिरिक्त बाकी सैनिक बल का परित्याग करना इस भय

को दूर करने में सहायक हो सकता है। यदि पूर्ण रूप से निरस्त्रीकरण किया जा सके तो यह भय सर्वथा ही मिटाया जा सकता है।

**विश्व-शान्ति का स्थायी साधन**

विश्व-शान्ति का स्थायी साधन तो विश्वराष्ट्र (World state) की स्थापना है। इस विश्वराष्ट्र में किसी देश को सेना रखने अथवा सैनिक सामग्री जुटाने का अधिकार ही न होगा। इन सेनाओं के न रहने पर—युद्ध की सम्भावना ही नहीं हो सकती। युद्ध के लिए दो पक्षों की आवश्यकता होती है। जब दो पक्ष ही न होंगे—और संसार भर में एक ही विश्वराष्ट्र होगा तो युद्ध किसका किस से ?

इस विश्वराष्ट्र से बाहर कोई देश न रहेगा—जिससे बाहरी आक्रमण की आशंका भी न हो सकेगी। ऐसी अवस्था में बड़ी सेना, सैनिक सामग्री, अणुबम आदि की आवश्यकता ही न रहेगी और विश्व का असंख्य धन जो आज युद्ध के आवश्यक उपकरणों के जुटाने में व्यय हो रहा है—मनुष्य जाति के स्वास्थ्य, शिक्षा आदि उन्नति के विषयों पर व्यय होगा। निस्सन्देह विश्वराष्ट्र की स्थापना एक टेढ़ी खीर है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों का, राष्ट्रीयता का परित्याग करके विश्वराष्ट्र में सम्मिलित हो जाना आज असम्भव सा प्रतीत होता है। परन्तु विश्वयुद्धों से परिश्रान्त मनुष्य जाति को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए इस मार्ग का अवलम्बन करना ही होगा। ऐसा किए बिना उसकी सत्ता ही संसार से लुप्त हो जाएगी। अमरीका में जैसे ४८ राष्ट्र परस्पर स्वार्थ की दृष्टि से ही सम्मिलित हो गए, इसी तरह उसी संघ-प्रणाली में विश्व के सब राष्ट्र भी सम्मिलित हो सकते हैं। आज अमरीका उन राष्ट्रों के संघ के कारण एक शक्तिशाली विशाल राष्ट्र बन चुका है। इसी प्रकार विश्वराष्ट्र जगत् की प्रबलतम संस्था बनेगी—जिसके अधीन प्रत्येक जाति, प्रत्येक देश स्वतन्त्रता-पूर्वक, निर्भयता से अपने जीवन का विकास करेगा।

हम विश्वशान्ति के अन्य सब उपायों को गौण मानते हैं। संसार में बारम्बार होते हुए शान्तिसम्मेलन अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिवेशन

विश्व-शान्ति की स्थापना में कदापि सफल न होंगे। वे केवल युद्धों की क्रिया-प्रतिक्रिया को रोकने में यत्किञ्चित् सफलता

**उपसंहार**

प्राप्त कर लेंगे—परंतु मानवीय प्रकृति के लोभ और स्वार्थ पर विजय प्राप्त न कर सकेंगे। विश्व-राष्ट्र में तो शिकार बनने वाले निर्बल राष्ट्रों की सत्ता ही न होगी। उनके न होने पर, कौन किस पर लोभ की दृष्टि से आक्रमण करेगा? उस विश्वराष्ट्र में समूचा मनुष्य-समाज प्रजा होगी—किसी को किसी अन्य के शोषण का अधिकार न होगा। समस्त भूमंडल के निवासी उस विश्वराष्ट्र के समान रूप से नागरिक होने के कारण, प्रत्येक व्यक्ति के हित का सम्पादन करना, उसकी उन्नति और अभ्युदय का प्रबन्ध करना उस विश्वराष्ट्र का कर्तव्य होगा। ऐसे विश्वराष्ट्र में परस्पर संघर्ष न होगा, विद्वेष और वैमनस्य न होगा, वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का अन्त हो कर स्थायी विश्वशान्ति का सर्वत्र साम्राज्य होगा।

---

# १६. प्रजातन्त्र बनाम तानाशाही

## भूमिका, तानाशाही का जन्म, तानाशाही के सिद्धान्त, प्रजातन्त्र और तानाशाही की तुलना, उपसंहार

योरोप में अरस्तू के समय से जनतन्त्र-प्रणाली को आदर्श शासन पद्धति माना गया है। फ्रांस की राज्य-क्रांति (१७८९) के बाद एक-सत्तात्मक शासनों का अन्त होने लगा और उसका

**भूमिका**

स्थान प्रजातन्त्र ने लेना शुरू किया। अमरीका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन की परिभाषानुसार जनतन्त्र प्रणाली वह है जिसमें 'जनता का, जनता द्वारा तथा जनता के लिए' शासन हो। इसमें प्रत्येक वयः प्राप्त व्यक्ति—पुरुष तथा स्त्री—शासन में भाग लेता है। यदि राष्ट्र छोटा हो तो उसमें सीधे तौर से शासन के सब कार्यों में प्रत्येक नागरिक भाग लेता है—जैसे यूनान के नगर-राष्ट्रों

में प्रत्येक नागरिक लेता था। यदि राष्ट्र बड़ा हो और सीधा भाग लेना सम्भव न हो तो अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन द्वारा प्रत्येक नागरिक शासन में भाग लेता है।

प्रजातन्त्र में प्रजा की आवाज ही भगवान् की आवाज है। प्रजा की इच्छा, भगवान् की इच्छा है। जिस किसी विषय पर प्रजा बहुसम्मति द्वारा निश्चय कर दे—उसका मानना प्रत्येक का कर्तव्य हो जाता है। फ्रांस में लुईस राजाओं से, रूस में ज़ार बादशाहों और इंग्लैंड में स्टुअर्ट वंश के स्वेच्छाचारियों से—प्रजा को मुक्ति प्राप्त हुई। लगभग १८वीं शताब्दी के अन्त से योरोप के देशों में प्रजातन्त्र की स्थापना हो गई।

भारत के बौद्धकालीन जनपदराष्ट्रों में प्रजातन्त्र का प्रचार रहा। राजा को प्रजा-निर्वाचित सभा और समितियों के परामर्श से राज्य करना होता था। मंत्रिपरिषद् की सहमति प्राप्त किए बिना शासन का कोई कार्य नहीं किया जाता था। सभाओं और समितियों में बहुमत द्वारा निश्चय किए जाने की प्रथा थी। मौर्य-साम्राज्य की स्थापना के साथ ये प्रजातन्त्र जनपद-राष्ट्र समाप्त हुए और गुप्त काल के अन्त तक एकतन्त्र राज्यों का भारत में शासन रहा। विदेशी आक्रान्ताओं के आने के साथ इस देश की स्वतन्त्रता ही जाती रही और गत लगभग १२०० वर्षों से इस देश का प्रजातन्त्र प्रणाली से सर्वथा सम्बन्ध टूट गया।

तानाशाही का जन्म प्रथम महायुद्ध के बाद (१६१४-१८) प्रजातन्त्र की प्रतिक्रिया रूप में हुआ। योरोप के प्रजातन्त्र-राष्ट्रों को युद्ध में निर्बल हो कर पराजित होना पड़ा। ऐसा अनुभव किया गया कि युद्ध समय में जनतन्त्र-प्रणाली को सैनिक निश्चय करने में विलम्ब लगता था और प्रत्येक निश्चय को गुप्त रखना भी कठिन हो जाता था। अतः इटली तथा जर्मनी में विशेषतया जनतन्त्र-प्रणाली के विरुद्ध घोर प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई और उन देशों में इस प्रणाली को समाप्त करके तानाशाही (Dictatorship) को स्थापित किया गया।

**तानाशाही का जन्म**

इटली में इसके अनुसार मुसोलिनी राष्ट्र का एकमात्र अधिनायक बना। वहाँ की पार्लेमेंट उसका उपकरणमात्र बनी। इटैलियन राजा राष्ट्र का चिह्नमात्र हो गया। वास्तविक शक्ति मुसोलिनी के अपने हाथ में आ गई जो ग्रैंड फेसिस्ट कौंसिल के परामर्श से इटली पर शासन करता रहा। यह कौंसिल मुसोलिनी का निजी मन्त्रिमंडल था। इसके अधिवेशन प्रायः गुप्त रूप से होते थे।

जर्मनी में भी एकसत्तावाद का उदय प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ। इस युद्ध में जर्मनी पूरी तरह हार गया था। मित्रराष्ट्रों की तरफ से उसके साथ बहुत कठोर व्यवहार हुए थे, जिसके कारण जर्मनी में पूर्ण अव्यवस्था फैल गई थी। इसी समय नाज़ीपार्टी का जन्म हुआ। इसका अधिनायक आडोल्फ हिटलर बना। सन् १६२० से १६३२ तक यह दल हिटलर के नेतृत्व में अधिकाधिक शक्तिशाली बनता गया। अगस्त १६३४ में राष्ट्रपति हिंडनबर्ग की मृत्यु हो गई और तब हिटलर फ्यूरर (महान् नेता) के नाम से जर्मन राष्ट्र का प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति और डिक्टेटर बन गया। जर्मन जनता के ६०% प्रतिशत मत हिटलर के पक्ष में थे। अब वह उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया। इस तरह जर्मनी में एक-सत्तावाद की उत्पत्ति तथा स्थापना हुई।

स्पेन ने भी इटली और जर्मनी का अनुकरण करके अपने देश में तानाशाही को स्थापित किया। जनरल फ्रैंको वहाँ का अधिनायक बना।

यद्यपि गत महायुद्ध (१६३६-४५) में तानाशाही की समाप्ति हो गई, तथापि इसके सिद्धान्तों को समझना अनुपयोगी न होगी। इटली में एकसत्तावाद का नाम फेसिज़्म था। जर्मनी में इसका नाम नेशनल सोशलिज़्म था। दोनों देशों में डिक्टेटरों का राज्य था। वे ही राष्ट्र के अधिनायक थे। दोनों देशों की पार्लेमेंट नाममात्र को शासन-विधान बनाती थी। वास्तविक शासन-विधाता तो वहाँ के डिक्टेटर थे। जनतन्त्र-प्रणाली की असफलता के बाद एकसत्तावाद की स्थापना इन देशों में हुई।

**तानाशाही के सिद्धान्त**

युद्ध के बाद जातीय पुनर्निर्माण के लिए जनतन्त्र-प्रणाली को अपर्याप्त तथा कमज़ोर समझा गया।

एकसत्तावाद अथवा फैसिज़्म उस राजनीतिक विचार-धारा का नाम है, जिसमें:—

(क) जातीय हित के सामने व्यक्ति के हित को तुच्छ समझा जाता है। व्यक्ति को जातीय गौरव का उपकरणमात्र बनाया जाता है। जाति के लिए प्रत्येक नागरिक को अपना सर्वस्व देने के लिए बाधित किया जा सकता है।

(ख) जातीय हित के सामने संसार के हित को भी तुच्छ समझा जाता है। सारे संसार का अहित करके भी अपने देश की भलाई के लिए सब उपायों द्वारा यत्न किया जाता है।

(ग) फैसिज़्म का आधार एक सुसंगठित पार्टी होती है। यही पार्टी शासन का संचालन करती है। इसके सामने अन्य सब पार्टियों को तुच्छ समझा जाता है और उन्हें कुचल डालने का यत्न किया जाता है। पार्टी के उद्देश्यों को ही राष्ट्र के उद्देश्य निश्चित किया जाता है।

(घ) इस पार्टी का संघटन सैनिक बल पर आश्रित होता है। वास्तव में सेनाबल द्वारा ही राष्ट्र की शासन-व्यवस्था की जाती है। राष्ट्र के प्रत्येक विभाग में सैनिक नियन्त्रण तथा अनुशासन रखा जाता है और थोड़े नियम-भग पर भी कठोर दंड दिया जाता है। अपने राजनीतिक विरोधियों का नृशंस हनन तक कर दिया जाता है।

(ङ) फैसिज़्म साम्यवाद का शत्रु है। अपनी जाति के समान यह किसी अन्य जाति को नहीं मानता। समानता का सिद्धान्त ही इसके आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल है। समाज में असमानता को नैसर्गिक तथा आवश्यक माना जाता है।

(च) फैसिज़्म अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का भी शत्रु है। उसे विश्वशान्ति में विश्वास नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को यह न केवल असम्भव समझता है, अपितु अवांछनीय भी। फैसिज़्म युद्धों की उपयोगिता को

मानता है और राष्ट्रसंघ आदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को ढकोसला समझता है।

(छ) फैसिज़्म नागरिक स्वतन्त्रता में विश्वास नहीं रखता। जनतन्त्र-प्रणाली में ही धर्म-स्वातन्त्र्य भाषण-स्वातन्त्र्य आदि का स्थान है। तानाशाही में जनता को ये अधिकार नहीं दिए जाते। डिक्टेटर के विरुद्ध आवाज़ उठाना या उसके शासन की आलोचना करना भी अपराध माना जाता है।

फैसिज़्म के सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए, निषेधात्मक रूप से मुसोलिनी ने स्वयं लिखा थाः—

"फैसिज़्म अन्तर्राष्ट्रीय नहीं है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीयता फैसिज़्म का अन्तरङ्ग अंग नहीं है। यह साम्यवाद नहीं है, क्योंकि यह मार्क्सिज़्म का विरोधी है; यह विभिन्न श्रेणियों के हितों के आधारभूत भेद को स्वीकार करता है। यह प्रजातन्त्र भी नहीं है, क्योंकि यह इस सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करता कि समाज के सब सदस्य केवल सदस्यत्व के नाते समाज पर शासन के योग्य भी हो जाते हैं। और यह शान्तिवाद ( Pacifism ) भी नहीं है, क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को सम्भव नहीं समझता।"

**प्रजातन्त्र और तानाशाही की तुलना**

तानाशाही प्रजातन्त्र शासन का प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त है। तानाशाही के समर्थकों का कथन है कि प्रजातन्त्र-प्रणाली में शासन अशिक्षित तथा अयोग्य हाथों में चला जाता है। धनाढ्य लोग निर्धनों के वोट खरीद कर सत्ता के अधिकारी बन बैठते हैं। सब की समानता स्वीकार करके विशिष्ट वर्ग का इसमें आदर नहीं किया जाता। विशेषतया युद्ध के समय में यह शासन-प्रणाली सर्वथा निर्बल हो जाती है और सैनिक निश्चयों को शीघ्रता से स्वीकार नहीं कर सकती।

इसके विपरीत तानाशाही में जनता द्वारा एक सुयोग्य व्यक्ति के डिक्टेटर निर्वाचित किए जाने के बाद देशोत्थान का सारा कार्य उस

पर छोड़ दिया जाता है, जो बड़ी-बड़ी लोक-सभाओं के विवाद और वोट की प्रतीक्षा किए बिना अपनी बुद्धि-अनुसार देशहित का सम्पादन करता है। युद्ध के समय वह निश्चयों को शीघ्रता से कर सकता है और अपने देश को विजय के मार्ग पर अग्रसर कर सकता है। जर्मनी में हिटलर को १९३४ में डिक्टेटर पद पर प्रतिष्ठित किया गया और उसने केवल पाँच वर्षों में अपने देश को, जो प्रथम युद्ध के कारण जीर्ण-शीर्ण हो चुका था—पुनः इतना बलवान् और शक्तिशाली बना दिया कि १९३९ में वह एक बार फिर संसार की समस्त शक्तियों से टक्कर लेने के लिए उद्यत हो गया। पाँच ही वर्षों में ऐसी राजनीतिक चेतना एवं सैनिक शक्ति का उत्पन्न हो जाना वास्तव में एक बड़ा चमत्कार था। जर्मनी द्वितीय महायुद्ध में लगभग विजेता हो ही चुका था—परन्तु उसे सोवियट रूस पर आक्रमण कर देने की भूल के कारण पराजित हो जाना पड़ा।

तानाशाही का सब से बड़ा दोष यह होता है कि इसमें व्यक्ति के विकास को कुचला जाता है। उसे विचार, प्रचार, भाषण आदि किसी की स्वतन्त्रता नहीं होती। वह केवल डिक्टेटर के हाथ में उपकरण-मात्र होता है। उसकी शिक्षा-दीक्षा सब उसी के हाथ में होती है। उसे राष्ट्र के हित के लिए अपने व्यक्तित्व को नष्ट कर देना होता है।

प्रजातन्त्र में शासन के पथभ्रष्ट हो जाने पर उसे, जनता द्वारा नए निर्वाचन में बदला जा सकता है। रक्तपात किए बिना ऐसा परिवर्तन शान्तिपूर्वक किया जा सकता है। परन्तु तानाशाही का अन्त क्रान्ति द्वारा, रक्तरंजित गृहयुद्धों द्वारा ही किया जा सकता है।

दोनों ही—प्रजातन्त्र तथा तानाशाही—अपने लक्ष्यों से च्युत हो कर पतित हो सकते हैं। प्रजातन्त्र पतित हो कर धनाढ्य वर्ग की कठपुतली बन सकता है और तानाशाही पूर्ण एकसत्तावाद में परिणत हो सकती है।

वर्तमान युग में अभी जनतन्त्र प्रणाली की स्थानापन्न शासन-पद्धति का आविष्कार नहीं किया जा सका। तानाशाही ने कुछ वर्षों के लिए

ही इसका स्थान लिया—परन्तु उसका शीघ्र ही ह्रास हो गया। यह सत्य है कि जनतन्त्र प्रणाली में अनेक दोष उत्पन्न हो चुके हैं, परन्तु उनका निवारण उचित राजनीतिक तथा नागरिक शिक्षा द्वारा किया जा सकता है। यदि प्रजातन्त्र में प्रजा को अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान करा दिया जाए और वह धनाढ्यों का शिकार न बने तो योग्य प्रतिनिधियों का निर्वाचन हो सकता है और शासन-प्रबन्ध योग्य हाथों में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

**उपसंहार**

---

# १७. उद्योगधन्धों का राष्ट्रीयकरण अथवा वैयक्तिक आधिपत्य

### भूमिका, पूँजीवाद वा समाजवाद, उद्योग-धन्धों के वैयक्तिक आधिपत्य की हानियाँ, राष्ट्रीयकरण के लाभ, उपसंहार

राष्ट्र की उन्नति के लिए उद्योग-धन्धों का उन्नत होना आवश्यक है। जिस देश की सभ्यता अभी बैलगाड़ी के स्तर पर हो और जहाँ वैज्ञानिक आविष्कारों के नवीनतम प्रयोगों का व्यवहार न किया जाता हो, उसे उन्नत नहीं कहा जा सकता। वहाँ की जनता दारिद्रय का शिकार बनी रहती है और सैनिक बल का वहाँ अभाव सा रहता है। उद्योगों द्वारा ही देश की दरिद्रता को दूर किया जा सकता है और जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा किया जा सकता है। उद्योगों द्वारा ही आवश्यक युद्ध-सामग्री को जुटाया जा सकता है और सैनिक शक्ति का संग्रह किया जा सकता है। तभी वह विश्व में सम्मानित स्थान प्राप्त करता है और विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों में गिना जाता है।

**भूमिका**

केवल कृषि पर आश्रित रहने वाले देश दूसरे देशों के गुलाम बन जाते हैं और उन्हें जीवन की आवश्यक वस्तुओं के लिए दूसरों का मुख देखना पड़ता है। जिस देश के लोग कपड़ा, औषध, यातायात के सामान, कागज़, वैज्ञानिक उपकरण आदि के लिए दूसरे देशों के व्यवसायों की अपेक्षा करते हैं, वे राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होते हुए भी, आर्थिक दासता की जंजीरों में जकड़े रहते हैं और उनकी स्वतन्त्रता नाममात्र की होती है। अतः कृषि को उन्नत करने के साथ-साथ देश के अपने व्यवसायों को उन्नत करना आवश्यक है। यह उन्नति इतनी मात्रा में अवश्य होनी चाहिए, जो आत्म-निर्भरता को उत्पन्न कर सके। जो देश आत्म-निर्भर नहीं होते, उन्हें युद्ध के समय बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

**पूँजीवाद और समाजवाद**

पूँजीवादी देशों में उद्योगधन्धों को व्यक्तियों या उन द्वारा निर्मित कंपनियों के हाथ में छोड़ दिया जाता है। ये व्यक्ति अथवा कंपनियाँ अधिकतम लाभ उपार्जन करने के लोभ से बहुत परिश्रम से काम करती हैं और अधिक उत्पत्ति द्वारा जातीय आय और सम्पत्ति की समृद्धि करती है। इस वैयक्तिक आधिपत्य से पूँजीवादी राष्ट्रों में धन का सञ्चय हो जाता है और एक ऐसे समाज की रचना होती है, जिसमें थोड़े से पूँजीपति राष्ट्र की अधिकतम सम्पत्ति के स्वामी बन जाते हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री चोजिया मनी के कथनानुसार इंग्लैंड की दो-तिहाई सम्पत्ति पर आबादी के एक-तिहाई व्यक्तियों का स्वामित्व है और एक-तिहाई सम्पत्ति पर दो-तिहाई का। इससे वहाँ के धन-वैषम्य का अनुमान लगाया जा सकता है। पूँजीवादी देशों में श्रमिकों की बहुसंख्या के साथ अन्याय किया जाता है और उनके पसीने की कमाई का उपभोग पूँजीपतियों द्वारा किया जाता है। बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे, व्यवसाय, कारखाने, रेलवे कंपनियाँ, खनिज पदार्थों की खानें आदि व्यक्तियों के हाथ में होने से, उनके बड़े-बड़े मुनाफे उन्हीं की जेबों में जाते हैं और मेहनती मजदूरों को नाम

मात्र की मजदूरी दे कर, उन्हें पददलित रखा जाता है।

इसी पूँजीवाद के प्रतिक्रियारूप में समाजवाद का जन्म हुआ। इसका लक्ष्य ऐसे समाज की स्थापना करना था—जिसमें व्यक्ति की अपेक्षा समूचे समाज के हित का सम्पादन करना प्रथम अपेक्षित था।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण एक आवश्यक साधन था। इस राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) से उद्योग-धन्धे कुछ व्यक्तियों अथवा कंपनियों के आधिपत्य में न रह कर समाज अथवा राष्ट्र के आधिपत्य में आ जाते हैं और उनके सब लाभ भी राष्ट्र के अधिकार में हो जाते हैं। साथ ही देश के सब प्राकृतिक साधनों पर भी राष्ट्रीय स्वत्व स्थापित हो जाता है और उनके द्वारा उत्पन्न होने वाले औद्योगिक पदार्थों पर राष्ट्र का अभिन्न स्वामित्व होता है। इस राष्ट्रीयकरण से किसी व्यक्ति द्वारा अन्य किसी व्यक्ति का शोषण असम्भव हो जाता है और राष्ट्र समस्त जनता के आर्थिक कल्याण का उत्तरदायी होने के कारण उत्पन्न हुए औद्योगिक पदार्थों का विभाजन समान रूप से करता है। श्रमिकों को राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था में उतने ही अधिकार प्राप्त होते हैं, जितने उद्योग-धन्धों के प्रबन्ध करने में नियुक्त व्यक्तियों को।

**उद्योग-धन्धों के वैयक्तिक आधिपत्य की हानियाँ**

पूँजीवाद का समर्थन करने वाले राष्ट्रीयकरण का सबसे बड़ा दोष यह बतलाते हैं कि इससे वैयक्तिक प्रेरणा मारी जाती है और उससे उत्पत्ति में बड़ी कमी हो जाती है।

यह सत्य है कि व्यक्ति में स्वार्थभावना अन्तर्निहित है और स्वार्थ-पूर्ति के लिए वह अधिक परिश्रम कर सकता है। लाभ-संग्रह की दृष्टि से उत्पत्ति के सब साधन जुटाने में, मितव्यय करने आदि में भी वह अधिक विचारवान् हो सकता है। वैयक्तिक स्वामित्व का आनन्द ही दूसरा होता है। वह रेगिस्तान को भी प्रफुल्लित उपवन में परिणत कर सकता है। स्वामित्व भावना न होने पर सोना भी रेत में परिवर्तित हो जाता है।

परन्तु यह तर्क श्रमिकों के सम्बन्ध में अधिक सत्य है। आज पूँजीवाद की व्यवस्था में करोड़ों श्रमिक अपने द्वारा उत्पन्न वस्तुओं के स्वामी न होने के कारण केवल उतना ही सहयोग देते हैं—जितना बाधित रूप से आवश्यक होता है। यदि समाजवाद के अनुसार उन्हें व्यवसायों के प्रबन्ध और उत्पन्न पदार्थों पर समान स्वत्व दे दिया जाए तो उत्पत्ति की मात्रा पहले से कहीं अधिक हो सकती है। जहाँ राष्ट्रीय-करण से थोड़ी संख्या वाले कुछ पूँजीपतियों की वैयक्तिक प्रेरणा ( initiative ) का हनन होगा—वहाँ असंख्य श्रमिकों की वैयक्तिक प्रेरणा में नया जीवन फूँका जाएगा और राष्ट्र के उत्पादन कार्य में असीम सहायता प्राप्त होगी। इसलिए थोड़ी-सी हानि से बहुत लाभ का सम्पादन करना राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कहीं अच्छा होगा।

वैयक्तिक आधिपत्य का दुष्परिणाम संसार के सम्मुख स्पष्ट है। इसने संसार के वास्तविक उत्पादक वर्ग को उसके परिश्रम के फल से वञ्चित कर रखा है। यह महान् शोषण अब अधिक देर तक नहीं चल सकता। वर्तमान अर्थ-विषमता विश्व-युद्धों का मूल कारण है। इंग्लैंड, अमरीका आदि देशों ने साम्राज्य-विस्तार द्वारा निर्बल राष्ट्रों को अपने लिए कच्चा माल पैदा करने का उपकरण मात्र बनाया और उन पर अपने कारखानों में बनाए पक्के माल ठूँस कर सम्पत्ति का उपार्जन किया। इससे शोषित राष्ट्रों में असन्तोष फैल गया और विद्रोहाग्नि प्रदीप्त हुई। अब पूँजीवादी राष्ट्रों के पंजे से सब पराधीन देश स्वतन्त्र होते जा रहे हैं और पूँजीवाद के सिद्धान्त को तिलाञ्जलि दे रहे हैं। अभी ईरान में अंग्रेज़ों के ऐसे अन्याय का प्रतिरोध किया गया है और तेल-उत्पादन के क्षेत्रों में उनके पूँजीवादी आधिपत्य का, राष्ट्रीयकरण द्वारा, अन्त कर दिया गया है।

जब तक संसार में ऐसे पूँजीवाद की समाप्ति सर्वत्र नहीं कर दी जाती; तब तक स्थायी विश्व-शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। प्रत्येक देश के श्रमिक अपने पर किए गए अन्यायों और अत्याचारों को अब

समझ गए हैं और वे विश्व भर के श्रमिकों का संघटन करके पूँजीवाद का सर्वत्र अन्त कर देना चाहते हैं। अतः पूँजीवादी देशों को भी सावधान हो जाना चाहिए और यथाशीघ्र अपने आर्थिक संघटन को इस तरह परिवर्तित कर देना चाहिए कि उत्पत्ति के किसी साधन के साथ अनुचित व्यवहार या अन्याय न हो। राष्ट्रीयकरण द्वारा ही सामाजिक न्याय की स्थापना हो सकती है। वैयक्तिक आधिपत्य को शीघ्र ही समाप्त करके उसका स्थान राष्ट्रीयकरण को मिलना उचित है।

**राष्ट्रीयकरण के लाभ**

राष्ट्रीयकरण से प्रजा के अधिकतम कल्याण का सम्पादन होता है। इस नीति द्वारा राष्ट्र अपने प्रत्येक नागरिक की शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक उन्नति का उत्तरदायी बन जाता है। देश के समस्त उत्पादन पर अधिकार करने के कारण उसका विभाजन भी न्यायपूर्वक किया जा सकता है। वर्तमान विषम विभाजन का अन्त उत्पादन के सब साधनों के राष्ट्रीयकरण के बिना होना असम्भव है। और विषमता के नाश हुए बिना संसार में शान्ति की स्थापना नहीं की जा सकती।

राष्ट्रीयकरण से उत्पत्ति के कम होने का भय सर्वथा मिथ्या है। मनुष्य केवल स्वार्थ का पुतला नहीं है। बिना लाभ के लोभ से वह पूर्ण योग्यता वा शक्ति से उत्पत्ति के कार्य में नहीं लग सकेगा, ऐसा विचार रखना, मनुष्य को एक अत्यन्त क्षुद्र प्राणी घोषित करना है। मनुष्य में राष्ट्र-प्रेम, विश्व-प्रेम आदि के उदात्तभाव भी अन्तर्निहित हैं। उन्हें जाग्रत करने से व्यक्ति को निःस्वार्थ परिश्रम के लिए भी प्रेरित किया जा सकता है। सोवियट रूस ने अपने प्रत्येक नागरिक को राष्ट्र-प्रेम की भावना से ओतप्रोत कर दिया है। वे अब आगे से कहीं अधिक परिश्रम से कारखानों में, जमीनों पर तथा अन्य उत्पादन-क्षेत्रों में काम करते हैं। गत महायुद्ध में इतना विध्वंस हो जाने के बाद भी वहाँ के नागरिकों ने अदम्य उत्साह और परिश्रम का परिचय दिया और राष्ट्रीय पुनर्निमाण के कार्य को थोड़े ही समय में सम्पन्न कर लिया है।

स्टेलिनग्राड, लेनिनग्राड आदि बड़े-बड़े नगरों का फिर से खड़ा हो जाना, उजड़े हुए गाँवों का पहले से अधिक सुन्दर रूप में पुनः स्थापित हो जाना, कृषि और उद्योगों का आगे से अधिक समृद्ध हो जाना—सब राष्ट्रीयकरण का ही परिणाम है। सोवियट रूस का व्यक्ति यदि राष्ट्र-कल्याण की प्रेरणा से स्वार्थ पर विजय प्राप्त कर सकता है और उत्पत्ति के कार्य को आगे से भी अधिक क्षमता से कर सकता है—तो अन्य देशों में ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता? आवश्यकता केवल उचित शिक्षा देने की है। राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति द्वारा नवीन सन्तान में नैतिकता की सद्भावनाओं को पैदा किया जा सकता है और राष्ट्रीय उत्पादन के कार्य में उसे पहले से अधिक उत्साहपूर्ण बनाया जा सकता है।

राष्ट्रीयकरण से बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के मुनाफे राज्य-कोष में एकत्र होंगे और उनसे राष्ट्र के पिछड़े हुए भागों में स्कूल, हस्पताल, सड़कें, बिजली आदि जीवन की सुविधाओं का प्रबन्ध करने में सहायता मिलेगी। कारखानों के श्रमिकों का राष्ट्रीयकरण से आत्मसम्मान बढ़ेगा। वे केवल भृतिहर न रह कर उत्पादन-कार्य के प्रबन्ध में समान रूप से भाग ले सकेंगे। उनके जीवन का स्तर इस व्यवस्था से कहीं उन्नत हो जाएगा।

भारत में राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्त को अपनाने की आवश्यकता है। तभी यहाँ उद्योग-धन्धों की उन्नति हो सकती है और तभी वे देश की उन्नति का साधन भी बन सकते हैं।

**उपसंहार**

आज देश के बड़े-बड़े व्यवसाय टाटा, बिड़ला और डालमिया के हाथों में है। वे लोग करोड़पति बन चुके हैं। परन्तु उनके कारखानों में काम करने वाले लाखों श्रमिक अब भी भूखी-नंगी, निःसहाय अवस्था में हैं। उनका जीवन-स्तर अब भी बहुत नीचा है। इसके अतिरिक्त साधारण जनता भी उद्योगों के इस केन्द्रीकरण के कारण बढ़ती हुई कीमतों का शिकार बन रही है। पूँजीपतियों की लोलुपता भी प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और वे बड़े-बड़े मुनाफों के लालच में

गरीब जनता के दुःख-दर्द को अनुभव ही नहीं करते।

राष्ट्रीयकरण नीति द्वारा राष्ट्र के सब बड़े-छोटे धन्धे राष्ट्र के अपने नियन्त्रण में होंगे और वस्तुओं की दुर्लभता या अन्याय-पूर्ण लाभ की लिप्सा समाप्त होगी। इस नीति का उद्देश्य जनता के अधिकतम कल्याण का साधन होगा। परन्तु राष्ट्रीयकरण से पूर्व उचित शिक्षा-पद्धति द्वारा नागरिकों को राष्ट्रप्रेम की भावना से ओतप्रोत करना आवश्यक होगा, जिससे उत्पादन का कार्य राष्ट्रीयकरण के बाद शिथिल न हो जाय।

---

# १८. भारत की भावी उन्नति में उद्योग-धन्धों का स्थान

**भूमिका, उद्योग-धन्धों का महत्त्व, भारत के प्राकृतिक साधन और उन पर आश्रित व्यवसाय, औद्योगिक उन्नति के उपाय, उपसंहार**

१६वीं शताब्दी तक भारत की आर्थिक स्थिति ऐसी थी कि यहाँ कृषि के समुन्नत होने के साथ गृह-व्यवसाय भी समुन्नत अवस्था में थे। ऐसी समतुलित स्थिति में भारत को न खाद्यपदार्थों की कमी रहती थी और न व्यावसायिक पदार्थों की। देश के गाँवों में ही अच्छे से अच्छा कपड़ा तैयार हो जाता था। ढाका की मलमल संसार में विख्यात थी। सुन्दर रेशमी कपड़ा भी हाथों से, अथवा छोटे-छोटे उपकरणों द्वारा, तैयार कर लिया जाता था। भारत के सब गाँव अन्न में आत्म-पर्याप्त होते थे और अन्य सब आवश्यकताओं को भी अपने उद्योग-धन्धों द्वारा पूरा कर लेते थे।

भूमिका

ब्रिटिश राज्य की स्थापना के साथ गृह-व्यवसायों को निरुत्साहित किया गया और उन्हें इसलिए समाप्त कर दिया गया कि वे इंग्लैंड से भेजे हुए माल का मुकाबला न कर सकें। मान्चेस्टर और लंकाशायर के कारखानों में तैयार किए कपड़ों को यहाँ ला कर भारतीय जनता पर

ठूँसा गया। ईस्ट इंडिया कंपनी का उद्देश्य ही भारत में अपने व्यापार के जाल को बिछाना था। सब उचित-अनुचित उपायों से यहाँ के व्यवसायों का खून करके अपने व्यवसायों को इस देश में उन्नत किया गया।

परिणामस्वरूप भारत को कृषि-प्रधान हो जाना पड़ा। यहाँ की जनता की जीविका का मुख्य आधार खेती को बना दिया गया। यहाँ के किसान कपास उत्पन्न करते, जिसे मान्चेस्टर, लंकाशायर भेज दिया जाता और उनके कपड़े बना कर दसगुनी कीमतों पर भारत में बेचा जाता। इस तरह ब्रिटिश राज्य द्वारा भारत का आर्थिक शोषण लगभग दो शताब्दियों तक निर्बाध चलता रहा।

सब से प्रथम भारत के नेता दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे तथा रमेशचन्द्र दत्त ने अंग्रेज़ अधिकारियों का तथा भारतीय जनता का ध्यान उपर्युक्त औद्योगिक ह्रास की तरफ दिलाया। उनका कथन था, जो देश केवल कृषि पर आश्रित रहता है और उद्योग-धन्धों की उन्नति की तरफ उपेक्षावृत्ति रखता है, उसे शीघ्र ही अवनति के गर्त में गिर जाना पड़ता है। वहाँ बेकारी बढ़ जाती है, लोग पराधीन और पराश्रित हो जाते हैं।

कृषि महत्त्वपूर्ण होती हुई भी देश की समस्त जनता के जीविकोपार्जन का साधन नहीं बन सकती। फिर साल में सात महीने के लगभग कृषकों को अकर्मण्य रहना पड़ता है। कृषि की आमदनी में वृद्धि करने के लिए आवश्यक है कि ग्रामों में गृह-व्यवसायों को फिर से जीवित किया जाए और नगरों में बड़े-बड़े व्यवसायों की स्थापना की व्यवस्था की जाए, जो बाहर से आए पदार्थों का मुकाबला कर सकें और उनका स्थान ले सकें।

भारत एक विशाल देश है। इसकी आबादी ३५ करोड़ के लगभग है। इसमें लगभग सात लाख गाँव हैं। आबादी की बड़ी संख्या इन्हीं गाँवों में रहती है। उनका जीविका का मुख्य साधन कृषि है। भारत

की कृषि अभी अत्यन्त अवैज्ञानिक अवस्था में है। परिणामस्वरूप उत्पत्ति बहुत कम है। यह उत्पत्ति इतनी कम हो गई है कि हमें लगभग १५० करोड़ रुपए का अनाज बाहर से मँगाना पड़ता है। इस कृषि पर आश्रित रहना, हमारे देश के लिए हितकर नहीं है। जहाँ कृषि को उन्नत करके आबादी के बड़े भाग की जीविका का आधार इसे बनाना होगा, वहाँ इस देश में व्यावसायिक उन्नति को भी तीव्रता से बढ़ाना अत्यन्त अपेक्षित होगा, जिससे आबादी का शेष भाग उसे अपनी जीविका का साधन बना सके। इस व्यावसायिक उन्नति का होना राष्ट्र के अस्तित्व के लिए परमावश्यक है। रक्षासम्बन्धी शस्त्रास्त्रों, यातायात के साधनों आदि को स्वयं न उत्पन्न करने वाला राष्ट्र आज सुरक्षित नहीं रह सकता। इनके लिए भारी व्यवसायों का प्रारम्भ करना और उनके द्वारा सेना की सब सामग्री को सदा तैयार रखना, आजकल के संसार में परम अपेक्षित है।

**उद्योग-धन्धों का महत्त्व**

उद्योग-धन्धों की उन्नति से आत्मपर्याप्तता प्राप्त करने के अतिरिक्त प्रत्येक राष्ट्र को इन्हें इसलिए भी उन्नत करना आवश्यक है कि वह अपने प्रकृति-प्रदत्त पदार्थों का सदुपयोग कर सके। भारत में यदि लोहा और कोयला हमें बड़ी प्रचुरता में दिया गया है, तो हमारा कर्तव्य है कि हम इनके द्वारा व्यवसाय चलाएँ और बड़ी-बड़ी मशीनरी, रेल, एंजिन, मोटर आदि वस्तुओं के लिए दूसरों का मुँह न ताकें। यह हमारी मूर्खता होगी, यदि हम इन प्राकृतिक साधनों का प्रयोग न करेंगे और सदा पराश्रित बने रहेंगे।

कृषि से अत्यन्त आवश्यक पदार्थ अन्न की प्राप्ति होती है। इससे कपास, पटसन, तेल के बीज आदि कच्चा माल मिलता है। परन्तु देश के सम्पत्ति-उत्पादन के वास्तविक स्रोत तो व्यवसाय ही हैं। इन्हीं से जातीय आय की वृद्धि होती है और प्रति व्यक्ति की आमदनी को भी बढ़ाया जाता है। प्रतिव्यक्ति की आमदनी बढ़ने से श्रमिकों, कृषकों तथा अन्य

सर्वसाधारण जन के जीवनस्तर को ऊँचा किया जा सकता है। हमें अपने देश में कृषि के महत्त्व को कम न करते हुए भी व्यवसायों के महत्त्व को समझना है और उन्हें उन्नत करने के लिए सब आवश्यक उपायों का प्रयोग करना है। इन्हीं व्यवसायों से देश की दरिद्रता दूर हो सकती है, बेकारी समाप्त हो सकती है, राष्ट्रीय सम्पत्ति समृद्ध हो सकती है और जातीय शक्ति को सम्पुष्ट किया जा सकता है।

**भारत के प्राकृतिक साधन और उन पर आश्रित व्यवसाय**

भारत की भौगोलिक स्थिति ऐसी सुन्दर है कि इसमें किसी चीज़ की कमी नहीं पाई जाती। इसमें हिमालय और विन्ध्याचल जैसी विशाल पर्वत-शृंखलाएँ हैं, जो खनिज-पदार्थों, जंगलों, नदियों, स्रोतों, वनस्पतियों तथा ओषधियों से भरपूर हैं। यहाँ की जलवायु प्रत्येक प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने के अनुकूल है। यहाँ की भूमि, वृद्ध होती हुई भी उर्वरा है। कोयला और लोहा—व्यवसायों की दो आधारभूत वस्तुएँ, इस देश में बहुतायत से पाई जाती हैं। बिजली पैदा करने के लिए अनेक साधन विद्यमान हैं। इतनी प्राकृतिक सुविधाएँ होते हुए भी यदि भारत दरिद्र है, तो इसका कारण वैज्ञानिक उन्नति का अभाव है। हमारी कृषि और व्यवसाय—दोनों—अभी बैलगाड़ी-सभ्यता के उपकरणों पर आश्रित हैं, अतएव उनमें पर्याप्त प्रगति नहीं हो रही।

**औद्योगिक उन्नति के उपाय**

अंग्रेज़ी राज्य में राजनीतिक जागृति के कारण औद्योगिक उन्नति की तरफ देश के कुछ पूँजीपतियों का ध्यान गया और उन्होंने विदेशी शासन से कुछ सहायता प्राप्त करके थोड़े से व्यवसायों को शुरू किया। प्रसिद्ध टाटा-परिवार ने जमशेदनगर में लोहे का एक बड़ा कारखाना खड़ा किया और उसे एशिया के बड़े-बड़े कारखानों के समान, विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों की सहायता द्वारा समृद्ध और सम्पन्न बना दिया। बिड़ला-परिवार ने बम्बई, कलकत्ता, देहली आदि स्थानों पर कपड़े का व्यवसाय बहुत बड़े पैमाने पर स्थापित किया। बंगाल में कुछ अंग्रेज़ तथा भारतीय

व्यापारियों ने पटसन के कारखाने खड़े किए। इन्हीं पटसन के कारखानों से भारत को करोड़ों रुपये का लाभ होने लगा। संसार में पटसन की उत्पत्ति की बहुमात्रा भारत में होने के कारण, विशेषतया युद्ध-समय में पटसन के पदार्थों की बहुत माँग होने के कारण, इस एक व्यवसाय से भारत का विदेशी व्यापार बहुत उन्नत हो गया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने देश की व्यावसायिक नीति की घोषणा करते हुए कहा कि "हमारा प्रथम मुख्य उद्देश्य सर्वसाधारण की आर्थिक स्थिति को उन्नत करना है। हमारा दूसरा लक्ष्य आर्थिक स्वतन्त्रता तथा आत्मपर्याप्तता प्राप्त करना है, क्यों कि बिना आर्थिक स्वतन्त्रता के राजनीतिक स्वतन्त्रता सर्वथा अर्थ-हीन होती है। हमारा तीसरा ध्येय उत्पत्ति की संवृद्धि से राष्ट्रीय शक्ति को समृद्ध करना है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हमें वर्तमान व्यवसायों द्वारा अधिकतम उत्पादन का प्रबन्ध करना होगा। सर्वसाधारण के आवश्यक पदार्थों के पैदा करने पर विशेष बल देना होगा और दीर्घ-कालीन योजनाओं द्वारा जातीय सम्पत्ति और शक्ति को बढ़ाने की तरफ शासन का ध्यान केन्द्रित करना होगा।"

औद्योगिक उन्नति को शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न करने के लिए आवश्यक है कि निम्नलिखित उपायों का प्रयोग किया जाए :—

(क) **कृषि को उन्नत करना**—व्यवसायों की समृद्धि के लिए अच्छे तथा सुन्दर कच्चे माल का व्यवहार किया जाना परमावश्यक है। कृषि के हीनावस्था में रहने पर पर्याप्त मात्रा में कपास, पटसन आदि का मिलना कठिन हो जाता है और कारखानों के होते हुए भी औद्योगिक विकास होना बन्द हो जाता है। अमरीका की कपास हमारी कपास से कहीं सुदृढ़ और सूक्ष्म तन्तु बनाने योग्य होती है, अतः यहाँ सुन्दर कपड़ों की उत्पत्ति में बाधा होती है। हमें वैज्ञानिक साधनों द्वारा कृषि में व्यावसायिक पदार्थों को पहले से अधिक उत्पन्न करना होगा—तभी औद्योगिक उन्नति में भी सहायता मिल सकेगी।

(ख) संरक्षण कर ( Pretective duties )—भारतीय सरकार को अपने देश के व्यवसायों को विदेशों के व्यवसायों की प्रतिस्पर्धा से सुरक्षित करना होगा। इसके लिए विदेशी आयात-वस्तुओं पर भारी कर लगा कर उन्हें प्रतिस्पर्धा के अयोग्य बना देना होगा। अपने देश के अविकसित व्यवसायों की रक्षा तभी हो सकती है—यदि उन्हें बाहर से आने वाले पदार्थों की प्रतियोगिता से बचाया जाए। इसी तरह अपने देश से बाहर जाने वाले कच्चे माल पर भी प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। इसके निर्यात को रोकने से ही हम अपने कारखाने सदा चालू रख सकते हैं और अपने देश के लिए आवश्यक पदार्थों की उत्पत्ति कर सकते हैं।

(ग) आर्थिक सहायता ( Bounties and Subsides )—उपर्युक्त आयात-निर्यात कर के अतिरिक्त शासन को सीधी आर्थिक सहायता देना भी आवश्यक है। जिन उद्योग-धन्धों को चलाने के लिए तथा उन्हें अपने पैरों पर खड़ा करने तथा सम्पुष्ट करने के लिए धन की अपेक्षा हो, उन्हें उदारता-पूर्वक वह सहायता देना सरकार का कर्तव्य होना चाहिए। न केवल बड़े-बड़े व्यवसायों को बड़ी-बड़ी सहायता दी जानी चाहिए, अपितु छोटे-छोटे गृह-व्यवसायों को ग्रामों में पुनः स्थापित करने के लिए उदारता की नीति का अनुसरण करना चाहिए।

(घ) वैज्ञानिक शिक्षा ( Scientific training )—हमारे देश की कृषि और उद्योगों की वर्तमान अवनत अवस्था का प्रधान कारण वैज्ञानिक शिक्षा का अभाव है। हमारे देश के किसान अपने पुराने तरीकों से खेती-बाड़ी करते हैं। हमारे श्रमिक सर्वथा अशिक्षित और विज्ञान के नवीन आविष्कारों से अपरिचित हैं। अतएव उत्पत्ति की मात्रा में इतनी कमी है। हमें औद्योगिक शिक्षा का व्यावहारिक ज्ञान शीघ्र ही अपने विद्यार्थियों को देना होगा जिससे वे व्यावसायिक उत्पत्ति को बढ़ाने में सहायक हो सकें। कृषि तथा उद्योगों के बड़े-बड़े महाविद्यालयों की अपेक्षा गाँव-गाँव तथा नगर-नगर में क्रियात्मक शिक्षा के सहस्रों विद्यालय खोल देना कहीं अच्छा होगा।

(ङ) विदेशी पूँजी (Foreign Capital)--व्यावसायिक उन्नति के लिए पूँजी का होना परमावश्यक है। भारत निर्धन देश होने के कारण बहुत पूँजी की व्यवस्था नहीं कर सकता। अतः विदेश से आ कर भारत में पूँजी लगाने वालों पर कड़ा अंकुश रखना उचित नहीं। श्री जवाहरलाल ने इस सम्बन्ध में भारत-सरकार की नीति घोषित करते हुए कहा था कि "विदेशी पूँजी को देश के हित के लिए प्रयोग किया जाएगा और कुछ शर्तों पर ही उसे यहाँ आने दिया जाएगा। विदेशी व्यवसायों को भारत में शासन द्वारा स्वीकृत नीति का अनुसरण करना होगा।"

**उपसंहार**

भारत की वर्तमान आर्थिक शोचनीय अवस्था को ठीक करने के लिए औद्योगिक उन्नति की परम आवश्यकता है। हाल ही में स्वीकृत पंचवर्षीय योजना द्वारा हमें अपने देश के प्राकृतिक साधनों का प्रयोग करके शीघ्रातिशीघ्र व्यावसायिक आत्मपर्याप्तता प्राप्त कर लेनी चाहिए। इसके लिए राष्ट्र द्वारा सीधा व्यवसायों का चलाना और जातीय शक्ति का उसमें प्रयोग करना परम अपेक्षित है। प्रतियोगिता के क्षेत्र में व्यवसायों को छोड़ देने से उनके ह्रास और अवनति की सम्भावना है। राष्ट्र के एकाधिपत्य तथा एकाधिकार में ही राष्ट्रीय योजनानुसार औद्योगिक उन्नति का आयोजन किया जा सकता है।

---

# १६. भारत में जन-वृद्धि की समस्या

**भूमिका, समस्या का स्वरूप, जन-वृद्धि रोकने की आवश्यकता, जन-वृद्धि रोकने के उपाय, उपसंहार**

**भूमिका**

एशिया में, चीन के बाद, भारत सब से बड़ा देश है। इसकी आबादी ३५६६४६८७६ है। जन संख्या की घनता प्रति वर्गमील २६६ है। इस देश का क्षेत्रफल १२२१००० वर्ग मील है। संसार की कुल आबादी लगभल दो अरब है। भारत

में इस आबादी का प्रायः पाँचवाँ भाग निवास करता है।

भारत की आबादी का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। इसके करोड़ों व्यक्ति भरपेट भोजन नहीं पाते। प्रायः ६० प्रतिशत लोग भोजन की पर्याप्त मात्रा नहीं पाते। इनके भोज्य पदार्थ भी जीवनी शक्ति ( Vitamins ) से शून्य होते हैं। अतः भारतवासियों की औसत आयु केवल २७'५६ बरस है। आबादी का बहुत बड़ा भाग रोगों से ग्रस्त रहता है। केवल तपेदिक से ही प्रति सेकंड दो व्यक्तियों की मृत्यु होती है। हज़ार में १६५ उत्पन्न बच्चे मौत का शिकार हो जाते हैं।

**समस्या का स्वरूप**

ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये सब लक्षण जन-वृद्धि के मर्यादा से अधिक हो जाने के हैं। भारत का कल्याण इसी में है कि इस जनवृद्धि को किसी तरह से रोका जाए।

परन्तु देश के क्षेत्रफल की दृष्टि से तथा प्रति वर्गमील घनता की दृष्टि से ३५ करोड़ की आबादी अधिक नहीं कही जा सकती। निम्नलिखित तालिका से यह स्पष्ट होगा कि सब उन्नतिशील देशों में प्रति वर्गमील घनता हमारे देश से कहीं अधिक है और उनमें आबादी के बढ़ जाने की शिकायत नहीं की जाती :—

| देश | घनता, प्रति वर्ग मील |
|---|---|
| १. इग्लेंड | ६८५ |
| २. बेल्जियम | ६५४ |
| ३. जापान | ३५२ |
| ४. जर्मनी | ४४३ |
| ५. इटली | ३६१ |
| ६. भारत | २६६ |

इस तरह जन-वृद्धि का प्रश्न वस्तुतः आर्थिक उन्नति तथा आवश्यक पदार्थों की उत्पत्ति का प्रश्न है। भारत एक विशाल देश है। इसमें प्रकृति-प्रदत्त अनन्त साधन हैं। यदि यहाँ उत्पत्ति की कमी है तो यह

जनशक्ति की नपुंसकता का परिचायक है। हमें सब सम्भव उपायों से अपने देश की कृषि तथा उद्योग-धन्धों को उन्नत करना चाहिए—अनाज की कमी को विशेषतया पूरा करना चाहिए—जीविका के विभिन्न साधन उपस्थित करने चाहिए—तब जन-वृद्धि की समस्या ऐसी जटिल कभी नहीं रह सकती।

उपर्युक्त विचारधारा का यह अभिप्राय नहीं कि भारत में जन-वृद्धि को रोकने की आवश्यकता नहीं। हमारी सम्मति में भारत की आबादी काफी बढ़ चुकी है और इसपर प्रतिबन्ध लगाना ज़रूरी है। बिना प्रतिबन्ध लगाए हम किसी राष्ट्रीय योजना को सफल बनाने में समर्थ नहीं हो सकते।

**जन-वृद्धि को रोकने की आवश्यकता**

अर्थशास्त्र के सिद्धान्तानुसार उत्पत्ति ( Production ) को खपत (Consumption) का अनुसरण करना होता है। प्रसिद्ध विचारक माल्थस का कथन है कि जब जन-वृद्धि बढ़ जाने से खपत बढ़ जाती है और उत्पत्ति उसका अनुसरण नहीं कर सकती, तब संसार में दुर्भिक्ष, बाढ़, अतिवृष्टि आदि दैवी आपत्तियों का प्रादुर्भाव होता है अथवा महायुद्ध आरम्भ होते हैं, जिनसे इस जन-वृद्धि पर प्रकृति द्वारा अंकुश रखा जाता है। मनुष्य की सभ्यता का परिचय इसी में है कि वह स्वयं जन-वृद्धि को मर्यादा में रखे और आवश्यक पदार्थों की उत्पत्ति के अनुकूल अपना विस्तार करे।

वर्तमान समय के उन्नततम राष्ट्र रूस में आबादी को अधिक बढ़ाने का यत्न किया जा रहा है। वहाँ तीन बच्चों से अधिक सन्तान उत्पन्न करने पर प्रतिसन्तान ६६० रूबल प्रतिवर्ष दिया जाता है। छः से अधिक सन्तान उत्पन्न करने पर प्रतिसन्तान २४०० रूबल सहायता का प्रबन्ध किया जाता है। विवाह न करने वालों पर तथा विवाह करके सन्तान न उत्पन्न करने वालों पर विशेष टैक्स लगाए जाते हैं।

वस्तुतः समस्या का स्वरूप आर्थिक है। जिस परिवार की आय पर्याप्त हो—वहाँ अधिक सन्तान का होना नहीं अखरता, परन्तु जहाँ

मासिक आमदनी अल्प हो वहाँ अधिक बच्चों का होना प्रत्येक व्यक्ति को चिन्ता का विषय प्रतीत होता है। क्योंकि रूस ने अपने देश में अनाज एवं व्यावसायिक पदार्थों की उत्पत्ति को आगे से दस-बीस गुना अधिक बढ़ा लिया है अतः वहाँ बढ़ती हुई आबादी चिन्ता का विषय न बन कर प्रसन्नता का हेतु है। वर्तमान २० करोड़ की आबादी यदि बढ़ कर ५० करोड़ भी हो जाए, तो भी सोवियट रूस को अन्न के कम हो जाने का भय नहीं। वहाँ बढ़ती हुई आबादी की अपेक्षा अनाज की वृद्धि कहीं अधिक हो रही है।

भारत में जनवृद्धि की समस्या इसीलिए चिन्ता का विषय बन रही है, क्योंकि अन्न तथा औद्योगिक वस्तुओं की वृद्धि आबादी का साथ नहीं दे रही। हमें तो आज अनाज तक के लिए दूसरे देशों का मुहताज बनना पड़ रहा है। लगभग ३ करोड़ टन अनाज बाहर से मँगाया जा रहा है। कपड़ों, मशीनरी, दवाई आदि के लिए भी हम पराश्रित हैं। अतएव यहाँ दुर्भिक्ष है, भोजन का अभाव है, जीवन-शक्ति का ह्रास है। यदि किसी तरह देश की उत्पत्ति को बढ़ाया जा सके तो यह बढ़ती हुई आबादी कभी आँखों में खटक नहीं सकती। यदि प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादन की वृद्धि में सहायक बनाया जा सके तो जनवृद्धि चिन्ता के स्थान में प्रसन्नता का विषय हो सकती है।

**जनवृद्धि रोकने के उपाय**

क्योंकि प्राचीन समय में निरन्तर रहने वाले गणसंग्रामों (Tribal warfare) के लिए अधिकाधिक मनुष्यों की आवश्यकता रहती थी, अतः विवाह संस्था का बाधित बनाना तथा सन्तान का अधिकाधिक संख्या में उत्पन्न करना समझ में आ सकता था। प्राचीन भारत में एकतम व्यवसाय कृषि होने के कारण, उसके लिए सहायक हाथों की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए भी जनसंख्या की वृद्धि करना युक्तियुक्त माना जा सकता था। परन्तु अब तो जनवृद्धि को मर्यादा से अधिक करना जातीय हितों के सर्वथा प्रतिकूल होगा। इस समय उत्पत्ति की अवस्था अत्यन्त

शोचनीय है—भारत की भूमि ह्रास के आर्थिक नियम के अधीन, प्रतिवर्ष कम उत्पादन कर रही है। अतएव खाद्य-समस्या प्रतिवर्ष भयङ्कर होती जा रही है। वैज्ञानिक साधनों से उत्पत्ति को अवश्य बढ़ाया जा सकता है, परन्तु वह बढ़ती हुई उत्पत्ति, जनसंख्या-वृद्धि के अनुपात में न होने से अवश्य पिछड़ जाएगी—ऐसा गत पचास वर्षों के आँकड़ों से स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः देश का कल्याण इसी में है कि जनवृद्धि पर भी कुछ अंकुश रखा जाए। बिना ऐसे अंकुश रखे, देश की आर्थिक अवस्था कभी सुधर नहीं सकती। पारिवारिक नियन्त्रण ( Family Planning ) से ही हम अपनी जनसंख्या को नियमित कर सकते हैं और खाद्यपदार्थों की उत्पत्ति को अपनी आवश्यकतानुसार पर्याप्त बना सकते हैं।

जनवृद्धि को रोकने का सर्वप्रथम उपाय यह है कि विवाह-संस्था को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की आधारभूत संस्था स्वीकार किया जाए। इसे व्यक्तियों की यथेच्छवृत्ति पर न छोड़ कर राष्ट्रीय नियन्त्रण में रखा जाए। इसके धार्मिक स्वरूप में हस्तक्षेप न करते हुए भी यह आवश्यक हो कि प्रत्येक व्यक्ति को विवाह से पूर्व स्वस्थ तथा सन्तानोत्पादन-योग्य होने का प्रमाणपत्र प्राप्त हो। विवाह की आयु पर भी प्रतिबन्ध लगाया जाए और बालविवाह को कानून द्वारा रोक दिया जाए।

ब्रह्मचर्य द्वारा अथवा अन्य वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा सन्ततिनिग्रह पर भी बल दिया जाए। एतदर्थ, यदि औषधालय खोलने आवश्यक हों तो उन्हें भी खोला जाए और उनके द्वारा सन्ततिनिग्रह का शिक्षण विशेषतः किया जाए।

सन्तान उत्पन्न करने की धार्मिक भावना को तर्कसम्मत बनाया जाए और उतनी ही सन्तान उत्पन्न करने पर बल दिया जाए, जितनी का आर्थिक दृष्टि से सुविधापूर्वक पालन-पोषण किया जा सके। जब तक भारत में राष्ट्र स्वयं प्रत्येक उत्पन्न बालक वा बालिका के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व नहीं ले सकता और उन्हें स्वयं शिक्षित कर,

जीविकायोग्य बनाने का भार स्वीकार नहीं कर सकता—तब तक देश-वासियों को आत्मसंयम से जीवन व्यतीत करना होगा।

जनवृद्धि को रोकने का एक और उपाय नागरिक-शिक्षा का प्रसार है। इसके द्वारा हम नागरिकों में देश के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के अतिरिक्त उन्हें योग्य माता-पिता बनने की भी शिक्षा दे सकते हैं। सुयोग्य माता-पिता बनने के लिए आवश्यक है कि वे सन्तति-निरोध करें और अपने परिवारों को सीमित रखें।

प्रतिवर्ष ५०,००,००० की बढ़ती हुई जनसंख्या और प्रतिवर्ष एक करोड़ के लगभग होती हुई मृत्यु संख्या हमारे देश के लिए एक बड़ी चेतावनी है। हमें जनवृद्धि की समस्या को गम्भीरता से विचार करके सुलझाने का यत्न करना चाहिए। इसी में हमारे देश का कल्याण है। जन्म और मृत्यु की तीव्र गति कभी उन्नति और समृद्धि का कारण नहीं बन सकती। इससे तो देश का ह्रास ही सूचित होता है। प्रत्येक सभ्य देश में जन्म पर नियन्त्रण रखा जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप मृत्यु पर स्वयं नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। जनसंख्या को सीमा में रख कर उसके अनुसार खाद्य-पदार्थों की उत्पत्ति कर के उस जनसंख्या को स्वस्थ एवं समृद्ध रखा जा सकता है। अन्यथा, निरर्गल वृद्धि का परिणाम केवल निर्धनता, भूख, नग्नता, दुर्भिक्ष और अकाल ही होता है। भारत को यदि अपनी वर्तमान शोचनीय अवस्था से उद्धार पाना है तो जनवृद्धि को निरंकुश रूप से बढ़ने से रोकना होगा। उत्पत्ति की वृद्धि के लिए भी विशेषतया यत्नशील होना होगा। प्रतिवर्ष जनसंख्या का बढ़ जाना अनिवार्य है। परन्तु वह जनवृद्धि उतनी मर्यादा में ही होनी आवश्यक है, जिसके लिए अच्छा खाना, अच्छे वस्त्र और अच्छे निवास-स्थान का प्रबन्ध किया जा सके। भारत के पास अब भी अपार प्राकृतिक वैभव है। उसे उपयोग में ला कर आवश्यक पदार्थों की उत्पत्ति तथा जनवृद्धि को समतुलित रखने में ही हमारे देश का अभ्युदय तथा कल्याण है।

**उपसंहार**

## २०. चोरबाज़ारी

### भूमिका, चोरबाज़ारी की उत्पत्ति के कारण, चोरबाज़ारी के परिणाम, चोरबाज़ारी मिटाने के उपाय, उपसंहार

गत महायुद्ध के समय आवश्यक वस्तुओं की कमी हो गई। सेना के लिए बड़ी मात्रा में उत्पन्न सब पदार्थों को सुरक्षित कर लिया जाता था। सामान्य जनता के लिए परिमित मात्रा में ही ये पदार्थ उपलब्ध होते थे। माँग अधिक तथा प्राप्ति कम होने की अवस्था में कीमतों का बढ़ जाना स्वाभाविक ही था। इस असाधारण स्थिति में सभी सरकारों ने पदार्थों की कीमतों पर अंकुश रखना प्रारम्भ किया। परन्तु इसका परिणाम विपरीत ही हुआ। वे पदाथ जिनकी कीमतों पर अंकुश रखा जाता, वे बाज़ार से ही लुप्त हो जाते। धन-लोलुप व्यापारी उन्हें घरों में या अन्य गुप्त स्थानों पर छिपा देते और उन्हें ऐसे व्यक्तियों के हाथ ही बेचते जो उनके मुँह-माँगे दाम दे सकते। इस तरह धनी लोगों को तो वे वस्तुएँ मिल सकतीं—परन्तु जनसाधारण को उनके दर्शन भी दुर्लभ हो गये। इस प्रकार जब वस्तुओं को खुले बाज़ार में नियन्त्रित कीमतों पर न बेच कर चोरी-चोरी गुप्त रूप में बेचा जाता है तो ,उसे ही चोर-बाज़ारी कहा जाता है।

**भूमिका**

चोरबाज़ारी का प्रधान कारण तो जातीय चरित्र की हीनता है। जब व्यापारी लोग शासन द्वारा निश्चित लाभ से सन्तुष्ट न रह कर लोभ के वशीभूत हो कर अधिक लाभ-संग्रह करना चाहते हैं, तभी चोरबाज़ारी की उत्पत्ति होती है। वे अपनी पाशविक वासना की तृप्ति के लिए, अपने देशबन्धुओं को भूखा मरता देख सकते हैं, स्त्रियों और बच्चों को दुर्भिक्ष का शिकार बनता देख कर भी निरपेक्ष तथा निर्लेप बने रह सकते हैं। स्वार्थ की इस पैशाची वृत्ति का परिणाम ही चोरबाज़ारी है।

**जोरबाज़ारी की उत्पत्ति के कारण**

चोरबाजारी का प्रारम्भ जहाँ धन-लोलुप व्यापारियों से होता है, उसकी प्रोत्साहना में उन अजितेन्द्रिय व्यक्तियों का भी हाथ है, जो परिमित समय के लिए भी अपनी इच्छाओं को वश में नहीं कर सकते और उनके गुलाम बन कर, पदार्थों की प्राप्ति किसी भी कीमत पर करना चाहते हैं। यदि चोरबाज़ार में वस्तुएँ खरीदने वाले ही न हों, तो बेचने वालों का स्वयं अन्त हो जाय और प्रत्येक वस्तु खुले बाज़ार में निर्धारित कीमत पर मिल सके।

**चोरबाजारी का परिणाम**

चोरबाज़ारी के भयङ्कर परिणामों से सब परिचित हैं। जहाँ धनी व्यक्तियों को उसके फल-स्वरूप बड़ी-बड़ी कीमतें देनी पड़ती हैं, निर्धन बेचारों के लिए आवश्यक पदार्थ भी दुर्लभ हो जाते हैं। बंगाल-दुर्भिक्ष में चोरबाज़ारी का नग्न ताण्डव लाखों निर्धन नर-नारियों और निरीह बच्चों की असामयिक मृत्यु का कारण बना। स्वार्थी, धन-लोलुप व्यापारियों ने खाद्य-सामग्री को गुप्त स्थानों पर छिपा दिया और उसे धनपतियों के हाथ बड़ी-बड़ी कीमतें ले कर बेचना शुरू किया। १२०) रु० मन चावल दुर्भिक्ष-पीड़ित स्थानों पर बिका, जिसे खरीदना सर्वसाधारण के लिए असम्भव था। अतएव ३५ लाख की भारी संख्या में वहाँ की जनता को प्राणों से हाथ धोना पड़ा। यह जातीय चरित्र॰ की हीनता का अवश्यम्भावी परिणाम था। बीसवीं शताब्दी में ऐसे हृदय-द्रावक दुर्भिक्ष का होना और उसका निवारण न हो सकना, भारत पर अमिट कलङ्क है। केवल विदेशी शासन का नाम ले कर इस कलङ्क को धोया नहीं जा सकता।

चोरबाज़ारी का एक अन्य भीषण परिणाम समाज में आर्थिक विषमता को प्रोत्साहित करना है। गत महायुद्ध में कितने ही नीच धनाढ्य व्यक्ति चोरबाज़ारी से अपने हाथ रँग कर तथा निर्धनों का खून चूस कर अधिक धनसम्पन्न बन गए। भारत में विशेषतया ऐसी विषमता को प्रोत्साहन मिला—जो वर्तमान सामाजिक अशान्ति का

कारण बन रही है। पाप-निर्भीक व्यापारियों ने ऐसे रक्तरञ्जित धन-उपार्जन में तनिक भी संकोच नहीं किया और सामाजिक जीवन को सर्वथा कलुषित कर दिया। जिस समाज में विषमता बहुत बढ़ जाती है और अन्याय असह्य हो जाते हैं, उसमें क्रान्ति का आना अनिवार्य है। भारत में ऐसी क्रान्ति का निकट भविष्य में उत्पन्न हो जाना अस्वाभाविक न होगा।

चोरबाज़ारी मिटाने का सर्वप्रथम मूलभूत उपाय जातीय चरित्र को उन्नत करना है। जब तक जातीय चरित्र उन्नत नहीं किया जाता, कोई अन्य उपाय पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने ही कल्याण का नहीं, समाज के अन्य व्यक्तियों के कल्याण का भी चिन्तन करना चाहिए। इसी में उसकी अपनी हित-साधना है। शरीर का कोई एक अंग केवल अपने को हृष्ट-पुष्ट रख के, तथा अन्य अंगों को निर्बल बना कर सुख वा आनन्द का भागी नहीं बन सकता। चोरबाज़ारी करने वाले, पाप से धनसंचय करके अपने अन्य देशबन्धुओं की आत्माओं को सन्तप्त करने में जो सुख मानते हैं, वह केवल क्षणस्थायी होता है, और उसका अवश्यम्भावी फल समाज तथा राष्ट्र का पतन होता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का नाश होता है।

**चोरबाज़ारी के मिटाने के उपाय**

जातीय चरित्र का निर्माण उचित राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली द्वारा ही हो सकता है। शिक्षा ही एक मात्र साधन है, जिसका प्रभाव स्थायी रूप से सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों पर अङ्कुश रख सकता है। इसी का आश्रय ले कर सभ्य देशों ने चोरबाज़ारी पर विजय प्राप्त किया है।

चोरबाज़ारी को मिटाने के लिए शासन द्वारा कड़े नियन्त्रण की भी आवश्यकता होती है। आवश्यक पदार्थों को गुप्त स्थानों से निकालने और अङ्कुश की अवहेलना करके अधिक कीमत पर वस्तुओं को बेचने वालों का पता लगाने के लिए योग्य, ईमानदार, कर्तव्य-परायण कर्मचारियों की अपेक्षा होती है। शासन द्वारा केवल अङ्कुश घोषित करना

पर्याप्त नहीं होता, उसे कार्यान्वित करने के लिए शुद्ध चरित्र का होना भी नितान्त आवश्यक होता है। यदि अङ्कुश का निरीक्षण करने वाले कर्मचारी पतित हो जाएँ तो चोरबाज़ारी को रोका जाना असम्भव हो जाता है। चरित्रवान् अधिकारियों द्वारा ही शासन सामाजिक बुराइयों पर विजय प्राप्त कर सकता है। शासनकर्त्ताओं के चरित्र का निर्माण भी उचित शिक्षा द्वारा ही हो सकता है।

जब मनुष्य की धर्म-भावना प्रसुप्त हो जाती है, जब मनुष्यता का ही उसके हृदय से लोप हो जाता है, तब शासन को दण्ड द्वारा मानव की मानवता जाग्रत करनी होती है। अनेक सभ्य देशों में कठोर दण्ड द्वारा चोरबाज़ारी का अन्त कर दिया गया है। चोरबाज़ारी का अपराध देशद्रोह के तुल्य घोषित करके अपराधियों को फाँसी का दण्ड देने की भी व्यवस्था की गई है। परिणाम-स्वरूप इस समाजघातक प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त कर लिया गया है।

स्वाधीनता स्थापित होने से पूर्व कांग्रेस के नेताओं ने चोरबाज़ारी का अन्त करने के लिए इसी उपाय का समर्थन किया था। परन्तु पदस्थ हो जाने के बाद, उन्होंने इस उपाय को कार्यान्वित नहीं किया। भारतीय संसद् में जब प्रो० के० टी० शाह ने चोरबाज़ारी के लिए आजीवन कालापानी अथवा फाँसी दंड देने की व्यवस्था का विधेयक उपस्थित किया, उसे यह कह कर अस्वीकार कर दिया गया कि शासन द्वारा अन्य उपायों से इसका नियन्त्रण किया जाएगा।

फाँसी का दंड सभ्यता के प्रतिकूल ही क्यों न हो, परन्तु इसकी सशक्तता में सन्देह नहीं किया जा सकता। यदि किसी अन्य उपाय से समाजघातक चोरबाज़ारी की बुराई का अन्त नहीं किया जा सकता, तो इस अन्तिम उपाय का आश्रय लेने में कोई आक्षेप नहीं किया सकता। जो लोग अपनी धन-लिप्सा के वश लाखों देश-बन्धुओं की मौत को हृदय-हीनता से देख सकते हैं, उन नरपिशाचों का सर्वसाधारण के सम्मुख फाँसी

**उपसंहार**

दिया जाना ही उचित दंड है। इसी भय से इस घोर पाप की समाप्ति हो सकती है। भारत में चोरबाज़ारी समाप्त करने के लिए ऐसे कठोर दंड की व्यवस्था करने में संकोच न करना चाहिए।

---

## २१. ग्राम-सुधार

### भूमिका, ग्रामों का महत्त्व, ग्रामों की समस्याएँ, ग्राम-सुधार के उपाय, उपसंहार

मनुष्य समाज का प्रारंभ ग्रामों से हुआ। नदियों के तटों पर जहाँ भूमि उपजाऊ होती, कुछ परिश्रमी परिवार एकत्र हो जाते और कृषि द्वारा अपनी जीविका का उपार्जन करते। जीवन की सभी आवश्यकताओं को परिवार के सामुदायिक प्रयत्नों द्वारा पूरा किया जाता। इन गाँवों के निवासी सीधे-साधे, सत्यपरायण, परस्पर सहानुभूति रखने वाले, सन्तुष्ट एवं सुखी होते। उनमें आर्थिक संघर्ष का अभाव होता। किसी वस्तु के लिए वे पराश्रित न होते। उनमें परस्पर कलह न होते। यदि कदाचित् हो भी जाते तो पंचायतों की साधारण व्यवस्था द्वारा उनका निवारण कर लिया जाता।

**भूमिका**

सभ्यता के क्रमशः विकास के साथ-साथ इन आत्म-निर्भर, आत्म-पर्याप्त एवं आत्म-सन्तुष्ट ग्रामों का शनैः-शनैः लोप होना प्रारम्भ हुआ और उनका स्थान उन गाँवों ने लेना शुरू किया, जो अपने अस्तित्व के लिए बड़े-बड़े नगरों पर आश्रित हो गए। भारत में ब्रिटिश-राज्य की स्थापना के साथ नगरों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और उनमें उद्योग-धन्धों तथा व्यवसायों का केन्द्रीकरण होने लगा। इन भारी व्यवसायों के कारण ग्रामव्यवसायों को असह्य आघात पहुँचा और ग्रामवासियों को जीविका-हीन हो जाना पड़ा। परिणाम-स्वरूप उनको गाँव छोड़ कर, कृषि की उपेक्षा करके, जीविका की खोज में नगरों में

आना पड़ा और अपनी स्वतन्त्रता खो कर मशीन के पुर्जों के समान कारखानों के निर्जीव उपकरण बन कर रहना पड़ा। आजकल के बड़े-बड़े नगर और उनके गगनचुम्बी प्रासाद आत्म-सन्तुष्ट गाँवों की राख पर ही खड़े हुए हैं।

**ग्रामों का महत्त्व**

परन्तु ग्रामों का महत्त्व आज भी कम नहीं है। वे अब भी हमारे अन्नदाता हैं। वहाँ के कृषक इस समय भी देश की सम्पत्ति के सच्चे उत्पादक हैं। उन्हीं के परिश्रम का फल हम नगर-निवासी खाते हैं; उन्हीं के पसीने की कमाई का हम उपभोग करते हैं।

भारत में लगभग ७ लाख गाँव हैं और उनमें लगभग ३० करोड़ देश के नागरिक निवास करते हैं। भारत का सच्चा कल्याण इन्हीं गाँवों की उन्नति में हैं। यदि इन गाँवों के लोग निर्धन, अशिक्षित तथा रोग-पीड़ित हैं तो नगरों के सुखसम्पन्न होने पर भी भारत को समृद्ध एवं सुखी नहीं कहा जा सकता। अतः इन गाँवों की तरफ शासन का विशेष ध्यान दिया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

**ग्रामों की समस्याएँ**

भारत के गाँवों की मुख्य समस्याएँ तीन हैं। प्रथम वहाँ की निर्धनता है। उसी ने उन्हें वर्तमान दीन-हीन अवस्था में रखा हुआ है। गाँव के लोग प्रायः ऋणग्रस्त रहते हैं, और पीढ़ियों तक कर्जा चुकाने में असमर्थ रहते हैं। कृषि के उनके तरीके पुराने हैं, उससे वे अधिक उत्पत्ति नहीं कर पाते। स्वयं अनाज के उत्पादक हो कर भी वे भूखे रहते हैं, वस्त्र-हीन और नंगे रह कर जीवन बिताते हैं और छोटे-छोटे तंग मकानों में निवास करते हैं। ब्रिटिश राज्य की स्थापना के साथ गृह-व्यवसायों का नाश हो गया—इससे गाँव वालों की आर्थिक अवस्था और भी अधिक शोचनीय हो गई और वे स्वावलम्बी न रह कर सर्वथा पराश्रित हो गए।

ग्रामवासियों का दूसरा अभिशाप अशिक्षा है। प्रायः शत-प्रतिशत गाँव के लोग अशिक्षित होते हैं। पढ़ना-लिखना, स्वास्थ्य-विज्ञान, कृषि-

विज्ञान आदि से वे सर्वथा अपरिचित होते हैं और अज्ञानवश अनेक दुःख उठाते हैं। वे प्रायः धार्मिक अन्धविश्वासों, रीति-रिवाजों, रस्मों, वहमों, आदि के शिकार बने रहते हैं और जितना थोड़ा बहुत धन होता भी है, इनके अनुष्ठान में नष्ट कर देते हैं। महाजन लोग भी इनकी अशिक्षा का लाभ उठाते हैं और दिए गए कर्जों पर सूद लगाने में उनसे धोखा करते हैं। बहुत अंश तक अशिक्षा ही ग्राम-वासियों की निर्धनता का कारण बनती है।

तीसरी समस्या रोग-ग्रस्तता की है। गाँवों में प्रायः सफाई न रहने के कारण तथा अन्य स्वास्थ्य की सुविधाएँ न होने कारण रोगों की भरमार रहती है। हस्पताल भी बहुत कम होते हैं। सैकड़ों मील की परिधि में कहीं एक चिकित्सालय मिलता है। अतः गाँव वालों को बीमारियों का शिकार बन कर असामयिक मृत्यु का ग्रास बनना पड़ता है। गाँवों में अनुभवी एवं शिक्षित दाइयों का अभाव होता है। कितने बच्चे पैदा होने के साथ ही मर जाते हैं। भारत के गाँवों में—अनुमान किया गया है—लगभग ३० लाख माताओं की प्रसूति-समय में ही मृत्यु हो जाती है।

इन सब दुःखों को दूर करने के लिए ग्राम-सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है। शीघ्र ही उपर्युक्त तीनों समस्याओं को हल करना तथा ग्रामोन्नति की योजनाएँ तैयार करना नितान्त अपेक्षित है। स्वतन्त्र भारत में अब गाँवों की उपेक्षा करना महान् अपराध है।

**ग्राम-सुधार के उपाय**

महात्मा गांधी जी ने इन समस्याओं को हल करने के लिए अकेन्द्रीकरण ( Dcentralisation ) का सुझाव रखा। इसके अनुसार शासन एवं आर्थिक संघटन की इकाई गाँव को मानना तथा गाँव से सब सुधारों का आरम्भ करना आवश्यक है।

सर्वप्रथम, गाँवों में स्वाधीनता की स्थापना के लिए पंचायतों को पुनर्जीवित करना होगा। वे ही शासन की आधारभूत संस्था हों। गाँवों का सारा प्रबन्ध उन्हीं के हाथों में हो। न केवल सफाई, सड़कें, बिजली,

पानी, आदि की व्यवस्था इन पंचायतों द्वारा हो, अपितु शान्ति स्थापित करना, परस्पर झगड़ों का निपटाना, दण्ड देना, कर संग्रह करना आदि भी इन्हीं के अधिकार में हो। ग्रामवासियों का केन्द्र में स्थित न्यायालयों में न्याय की भिक्षा के लिए आना स्थानीय स्वतन्त्रता का अपहरण करना होगा। केन्द्र से गाँवों में तहसीलदार, जैलदार, थानेदार आदि कर्मचारियों को प्रतिष्ठित करना भी गाँवों के स्वावलम्बन पर कुठाराघात करना होगा। ऐसी स्वतन्त्रता के लिए ग्रामवासी कोई प्रेम नहीं रख सकते, न उसकी रक्षा के लिए वे बलिदान करने की प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं।

गाँवों की निर्धनता को समाप्त करने का एकमात्र उपाय कृषि एवं घरेलू धन्धों को पुनः समुन्नत करना है। इसके लिए शासन को उदारता से धन व्यय करना होगा। नहरें बनवा कर और उत्तम खाद, बीज, वैज्ञानिक उपकरण आदि दे कर उत्पत्ति को आगे से दस गुना करना होगा। इसी से देश का सच्चा कल्याण होगा।

किसानों की दरिद्रता मिटाने के लिए ज़मीन्दारी का उन्मूलन करना होगा। भूमि में हल चलाने वाले, पसीना बहा कर अनाज उत्पन्न करने वाले कृषक को उस ज़मीन पर पूरा स्वामित्व देना होगा। उसकी ऋण-ग्रस्तता को समाप्त करने के लिए भी उचित विधान बनाने होंगे। नवीन सामाजिक संघटन में ऋण देने-लेने की आवश्यकता ही नहीं रहनी चाहिए। इसमें राष्ट्र द्वारा सहकारी समितियाँ स्थापित कर के कृषकों के लिए अपेक्षित आर्थिक सहायता का प्रबन्ध करना होगा।

स्वतन्त्र भारत में घरेलू धन्धों की तरफ भी विशेष ध्यान देना होगा। इनको पुनः संघटित करने के लिए भी धन, आवश्यक उपकरण, उचित शिक्षण आदि की पूरी सहायता देनी होगी। इस दिशा में भी सहकारी समितियों का आयोजन करना होगा।

अशिक्षा के अभिशाप को दूर करने के लिए बाधित निःशुल्क आरम्भिक शिक्षा आरम्भ करना अत्यन्त आवश्यक है। देश के प्रत्येक पुत्र वा पुत्री को ६ वर्ष की आयु से १० वर्ष की आयु तक स्कूल में

मनुष्य ने रेल, मोटर, जहाज, वायुयान आदि बना कर स्थल, जल तथा आकाश पर विजय प्राप्त कर लिया है,। विज्ञान के ये आविष्कार जहाँ मनुष्य समाज के लिए अमित-लाभकारी हुए हैं वहाँ युद्ध के समय उतने ही विनाशकारी भी सिद्ध हुए हैं । हिरोशिमा और नागासाकी में फेंके गये एक अणुबम का भीषण परिणाम विश्व को विदित है। वास्तव में विज्ञान के आविष्कार जहाँ एक ओर मनुष्य समाज के लिए वरदान रूप सिद्ध हुए हैं वहाँ दूसरी ओर समय-समय पर अभिशाप रूप भी सिद्ध हुए हैं । पर रेडियो का आविष्कार अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों से कुछ भिन्न है । यह जहाँ चमत्कार में अन्य आविष्कारों से बढ़-चढ़ कर है, वहाँ संसार का उपकार करने की योग्यता भी इसमें बहुत अधिक है । मनुष्य ने प्रायः सभी वैज्ञानिक आविष्कारों का दुरुपयोग किया है, परन्तु रेडियो द्वारा युद्ध-समय में भी इससे बहुत हानि न हो कर लाभ ही हुआ है। रेडियो का आविष्कार वस्तुतः विज्ञान पर चार चाँद लगाने वाला है।

रेडियो का आविष्कार किसने किया, यह बताना कुछ कठिन है, क्योंकि किसी विशेष व्यक्ति को इसका श्रेय नहीं दिया जा सकता । जेम्स

**रेडियो का आविष्कार**

क्लार्क मैक्सवेल प्रथम व्यक्ति था, जिसने बिजली की तरंगों का सिद्धान्त सर्वप्रथम संसार के सामने रखा । सन् १८८७ में हर्ट्स ने इन विद्युत्-तरङ्गों का परीक्षण करने के पश्चात् यह विवेचना की कि जिस प्रकार रोशनी तथा गर्मी की तरंगें हैं, उसी प्रकार बिजली की भी तरंगें हैं। उन दोनों के बाद फ्लैमिंग ने अपना अन्वेषण किया । १८६४ में जगदीशचन्द्र वसु ने बिना तार के भेजी गई विद्युत्-तरंगों से पिस्तौल चला दिया और १८६५ में पोपोव और मारकोनी ने बिना तार के विद्युत्-सन्देश भेजा।

रेडियो ने लोकहित-सम्पादन में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वह सर्वविदित है । मनोरञ्जन का साधन तो रेडियो बना ही है—परन्तु

विश्व की एकता स्थापित करने में इसका बड़ा हाथ है। दस सहस्त्र मील दूरी पर बैठा व्यक्ति एक सेकंड में दूसरे व्यक्ति को अपनी आवाज़ पहुँचा कर उससे सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और परस्पर समाचारों का विनिमय कर सकता है। डाक अथवा समाचार-पत्रों द्वारा ये समाचार जहाँ अनेक दिनों के बाद एक दूसरे तक पहुँचाए जा सकते हैं, वहाँ रेडियो द्वारा एक क्षण में वैसा किया जा सकता है। इससे परस्पर-सान्निध्य का बढ़ना स्वाभाविक है।

**रेडियो का सार्वजनिक महत्त्व**

युद्ध की अवस्था में भी लड़ने वाली जातियों ने रेडियो का आश्रय ले कर परस्पर सन्धि एवं शान्ति के प्रस्तावों को कार्यान्वित किया—जिन्हें वे एक दूसरे के पास जा कर प्रस्तुत करना जातीय अभिमान के विरुद्ध समझते। इससे युद्धों की समाप्ति में और विश्व-शान्ति की स्थापना में स्पष्टरूप से सहायता प्राप्त हुई है। मनुष्य-समाज को इस उपकार के लिए रेडियो के प्रति ऋणी होना चाहिए।

समाचारों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर विद्युत्-गति से पहुँचना अपने में ही एक महान् सार्वजनिक उपकार का कार्य है। इससे दूरस्थ इष्टजनों के कुशल-वृत्तान्त पता लगते रहते हैं और संसार के किसी भाग में होने वाले प्राकृतिक प्रकोप, भूकम्प, अग्निकाण्ड, अतिवृष्टि आदि घटनाओं का पता लगता रहता है। इंग्लैंड या आस्ट्रेलिया में होते हुए क्रिकिट के टेस्ट मैचों का हाल हम उसी समय घर बैठे सुन सकते हैं। दिल्ली में स्वाधीनता-दिवस पर मनाई जाती खुशियों का व्योरेवार समाचार तथा नेताओं के भाषण हम देश के किसी कोने में बैठे सुन सकते हैं।

रेडियो का राष्ट्र के शासन के लिए विशेष महत्त्व है। इसके द्वारा शासन सर्वसाधारण जनता तक शीघ्र ही पहुँच सकता है और उसे सामान्य अथवा विशेष अवस्थाओं में नागरिकता के कर्तव्य पालन के लिए प्रेरित कर सकता है। भारतवर्ष में खाद्य-समस्या के विकट होने

के साथ कितनी बार देश के प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल को जाति के सम्मुख रेडियो द्वारा भाषण देना पड़ा और उसे, अपने कर्तव्यों के पालन करने पर बल देना पड़ा है । उसी के परिणामस्वरूप जाति ने आत्मसंयम से वर्तमान सङ्कटावस्था को उत्तीर्ण किया है।

देश पर अकस्मात् शत्रु के आक्रमण हो जाने पर सैनिक तथा असैनिक जनता को राष्ट्र-प्रेम की भावनाओं से ओतप्रोत करना और राष्ट्र-रक्षा के लिए सर्वस्व बलिदान करने के लिए प्रेरित करना भी रेडियो द्वारा सुसाध्य हो जाता है । पार्लेमेंट अथवा उससे बाहर व्याख्यानों से अथवा समाचार पत्रों से देश के एक छोर से दूसरे छोर तक उत्साह की तरङ्ग को वैसा प्रवाहित नहीं किया जा सकता जैसा रेडियो द्वारा प्रसारित भाषणों, संवादों, रूपकों आदि द्वारा किया जा सकता है।

परन्तु रेडियो का सर्वोत्कृष्ट महत्त्व शिक्षा-सम्बन्धी है । इसके द्वारा शिक्षा को न केवल आकर्षक अपितु अति-उपयोगी भी बनाया जा सकता है। प्रायः सभी सभ्य राष्ट्रों में रेडियो का प्रयोग शिक्षा के विस्तार के लिए किया जा रहा है । भारत में भी इसे जातीय पुनर्निर्माण का शक्तिशाली साधन बनाया जा सकता है । इस सम्बन्ध में निम्नलिखित निर्देश ध्यान में रखने योग्य हैं:—

**रेडियो का शिक्षा-सम्बन्धी महत्त्व**

(क) प्रारम्भिक शिक्षा में बच्चों को भूगोल का ज्ञान यात्रा-वृत्तान्तों को सुनाने से सरलता से कराया जा सकता है। इतिहास उन्हें कहानी अथवा नाटक रूप में सिखाया जा सकता है। कविता तथा अन्य साहित्य का बोध संगीत तथा भाषणों द्वारा कराया जा सकता है । श्रेणी में अध्यापक से पढ़ाए हुए पाठों की तरफ बालक-बालिकाओं की इतनी रुचि नहीं हो सकती, जितनी रेडियो में प्रसारित किए गए उपर्युक्त प्रोग्रामों की तरफ़ हो सकती है। शिशु-अवस्था की मनोवैज्ञानिक प्रेरणाओं का अध्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि इस अवस्था में बच्चों की शिक्षा पुस्तकों और लेखों द्वारा इतनी सुगमता तथा सुचारुता से नहीं

हो सकती जितनी प्रत्यक्ष अनुभूतियों, यात्राओं, चित्रपटों के देखने तथा रेडियो के सुनने से हो सकती है।

(ख) रेडियो द्वारा प्रौढ़ शिक्षा का विस्तार भी सुविधा से किया जा सकता है। जिन पुरुष तथा स्त्रियों को स्कूलों में जाने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता, उनका शिक्षित होना भी जाति के उत्थान के लिए परमावश्यक है। पढ़ना, लिखना, गिनना मात्र प्रौढ़ों को सिखा देना पर्याप्त नहीं है। इनसे अधिक व्यावहारिक शिक्षा तो स्वास्थ्य, सफाई, साधारण ज्ञान आदि के बोध कराने में है। रेडियो की सहायता से अशिक्षित लोगों में भी सफाई की बुद्धि को, सेहत के नियमों को तथा देश विदेश में होने वाली घटनाओं के महत्त्व को समाविष्ट किया जा सकता है। विशेषतया ग्राम-वासियों का जीवन-स्तर रेडियो-शिक्षण द्वारा सफलता-पूर्वक उन्नत किया जा सकता है। उनकी शिक्षा के प्रति अरुचि को रेडियो द्वारा जीता जा सकता है और नागरिकता के प्रारम्भिक तत्त्व उनके हृदयङ्गम किए जा सकते हैं। कृषि सम्बन्धी साधारण ज्ञान—समय पर बीजों को बोना, अच्छी खाद डालना, ट्रैक्टर का प्रयोग करना, टिड्डियों, कृमियों आदि से फसलों की रक्षा करना—यह सब प्रौढ़ किसानों को रेडियो की सहायता से अवगत कराया जा सकता है। ऐसा प्रौढ़-शिक्षण देश के आर्थिक पुनर्निर्माण में परम उपयोगी सिद्ध हो सकता है। केवल रात्रि-पाठशालाओं में जा कर पढ़ना, लिखना, गिनना सीख लेना देश की अशिक्षा की समस्या को हल नहीं कर सकता।

(ग) रेडियो के शिक्षा-सम्बन्धी महत्त्व का एक अन्य रूप भी है। देश-विदेश में भिन्न भिन्न विषयों तथा विज्ञान के आविष्कारों के विशेषज्ञ विद्वान् संसार का रेडियो द्वारा महान् उपकार कर सकते हैं। पुस्तकों द्वारा उन सब नवीन तत्त्वों का शीघ्र प्रसार हो जाना कठिन होता है—परन्तु रेडियो के एक भाषण से समस्त विश्व को आविष्कृत नवीन सत्य से परिचित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, मनुष्य के रोगों का नाश किन नवीन औषधियों, इंजेक्शन, आपरेशन, आदि से हो सकता है—

इस का सर्वसाधारण ज्ञान रेडियो द्वारा विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाया जा सकता है। प्रयोगशालाओं में तल्लीन रहने वाले वैज्ञानिकों को इससे अधिक सन्तुष्टि नहीं हो सकती कि उनके आविष्कारों से मनुष्य जाति की प्रगति तथा उन्नति में सहायता मिल रही है। भारतवर्ष में रेडियो विभाग द्वारा ऐसे तत्त्वान्वेषक विशेषज्ञों के समय-समय पर दिए गए व्याख्यान देश को अग्रसर बनाने वाले होंगे।

रेडियो विज्ञान की सर्वोत्कृष्ट देन है। इसकी उपकार-क्षमता अपरिमित है। मनुष्यजाति के उत्थान में, विश्व-शान्ति की स्थापना में तथा एक विश्वराष्ट्र की कल्पना को कार्यान्वित करने में रेडियो एक शक्तिशाली साधन बन सकता है। इस माध्यम के द्वारा देश परस्पर समीप आ सकते हैं—राष्ट्र एक दूसरे के विचारों को तथा विचार-विभिन्नता के कारणों को अवगत कर सकते हैं। भारतवर्ष में इस साधन की विशेष उपयोगिता है। ९० प्रतिशत अशिक्षा को दूर करने, नीरोगता को लाने एवं दरिद्रता के अभिशाप का निवारण करने में रेडियो महान् कार्य कर सकता है। अतः रेडियो विभाग का हमारे देश में सुसंघटित होना परमावश्यक है। शासन द्वारा निर्धन व्यक्तियों को रेडियो सेट का उपहार रूप में दिया जाना, इस सम्बन्ध में परम अपेक्षित है। तभी रेडियो को राष्ट्रोत्थान अथवा जातीय पुनर्निर्माण का सहायक शक्तिशाली उपकरण बनाना सम्भव हो सकता है।

उपसंहार

---

## २३. बोलते चित्रपट

### भूमिका, चित्रपट का महत्त्व, चित्रपट के लाभ, चित्रपट की हानियाँ, उपसंहार

चित्रपट का आविष्कार विज्ञान का एक महान् चमत्कार है। प्राचीनतम समय से मनुष्य की रुचि चित्रों के प्रति रही है। भारतवर्ष में दृश्यकाव्य की उत्पत्ति इसी रुचि को सन्तुष्ट करने के लिए हुई।

कठपुतलियों के नाच, नृत्य और सङ्गीत इसी को तृप्त करने वाले थे।

**भूमिका**

मध्यकाल में नाटक, अभिनय, रासलीला आदि भी इसी रुचि का परिणाम थे। विज्ञान ने चित्रपट ही नहीं, बोलते चित्रपट का आविष्कार करके मनुष्य के स्तर को इस दिशा में, बहुत उन्नत कर दिया है। मनुष्य अब केवल मूक अभिनेताओं वा अभिनेत्रियों के नीरव हाव-भाव वा संकेतों को देख कर अपने चाक्षुष अनुभव को ही सन्तृप्त नहीं करता परन्तु उनकी प्रत्यक्ष वाणी, संवाद वा संगीत से अपनी श्रवणेन्द्रिय तथा अन्तस्तल को अनिर्वचनीय आह्लाद से परिपूर्ण करता है। प्रत्येक अग्रगामी देश में जातीय जीवन में आनन्द भरने के लिए चित्रपट को आवश्यक साधन स्वीकार किया गया है।

**चित्रपट का महत्त्व**

किसान जब सारा दिन ज्येष्ठ की कड़कती धूप में पसीना बहा कर सायंकाल अपने घर वापस आता है, मजदूर कारखाने के दुर्गन्धित वायु-मण्डल में मशीन के पुर्जे की तरह निर्जीव रूप में आठ घंटे काम करके जब विश्राम की प्रबल प्रेरणा से किसी रोचक, हृदयग्राही पदार्थ की तलाश करता है—तो प्रायः चित्रपट से बढ़ कर उसे कुछ और आकर्षक नहीं होता। वहाँ उसे मानसिक विश्रान्ति प्राप्त होती है—थकावट दूर होती है। दिन भर के परिश्रम का क्षय होता है और कुछ क्षण के लिए वह समाज के अत्याचारों, शोषण अथवा अन्याय को भूल जाता है। केवल किसान और मज़दूर ही नहीं अपितु दुकानदार, व्यापारी, विद्यार्थी, शिक्षक, वकील, डाक्टर आदि अन्य वर्गों के लोग भी छः दिन के कठिन परिश्रम के बाद सातवें दिन कुछ मनबहलाव की आवश्यकता अनुभव करते हैं। इस कार्य के लिए चित्रपट से बढ़ कर कोई अन्य साधन नहीं है।

चित्रपटों का प्रथम लाभ मनोरञ्जन करना है। मनोरञ्जन का जीवन में बड़ा स्थान है। इसके बिना जीवन फीका और नीरस हो जाता है।

जहाँ कार्यलग्नता में गम्भीर होना आवश्यक है, वहाँ कुछ काल के लिए चित्त को चिन्ताओं से मुक्त करके उसमें आनन्द और उल्लास भरना भी आवश्यक है। परिश्रम के बाद विश्राम का होना, परिश्रम की योग्यता को कम नहीं करता, अपितु उसे अधिक करता है। विक्षुब्ध, सन्तप्त, चिन्तित अथवा विषण्ण अवस्था में मानसिक वृत्तियों का परिवर्तित हो जाना ही अत्यन्त शान्ति प्रदान करने वाला होता है। चित्रपट से मनुष्य का विक्षोभ नष्ट होता है, चिन्ताएँ दूर होती हैं और मानसिक स्वास्थ्य का लाभ होता है। यह मनोरञ्जन उसकी कार्यक्षमता को बढ़ाने वाला होता है।

**चित्रपट के लाभ**

चित्रपट का दूसरा उपयोग शिक्षण के लिए किया जा सकता है। जिन भूगोल के पाठों को पुस्तकों द्वारा अरुचिकर रूप में पढ़ाया जाता है—उन्हें चित्रों द्वारा आकर्षक बना कर विद्यार्थियों के मस्तिष्क में स्थायी रूप से अङ्कित किया जा सकता है। इतिहास के महायुद्ध, राजाओं के दरबार, राज्य-क्रान्तियाँ, राष्ट्रोत्थान, राष्ट्र-पतन आदि चित्रों द्वारा कहीं अधिक सुविधा से हृदयङ्गम कराए जा सकते हैं। भौतिक विज्ञान, रसायन-शास्त्र आदि कठिन विषयों के परीक्षण भी चित्रपटों द्वारा अधिक लोकप्रिय तथा अल्पव्यय-साध्य बनाए जा सकते हैं। अब तो भाषाओं का शिक्षण तक भी चित्रपट से सम्भव हो चुका है। विश्वविद्यालयों की बड़ी संख्या के विद्यार्थियों के लिए किसी अन्य विश्वविद्यालय के योग्य विद्वान् अध्यापक के व्याख्यानों का प्रबन्ध भी चित्रपटों द्वारा किया जा सकता है।

जातीय जीवन के पुनर्निर्माण में भी चित्रपट का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके द्वारा राष्ट्र में नवीन उत्साह, नवीन भावनाएँ और नवीन जीवन फूँका जा सकता है। संकट की अवस्था में जातीय जागृति उत्पन्न करने में चित्रपट परम सहायक होता है। आजकल के कार्य-व्यग्र नेता स्थान-स्थान पर व्यक्ति रूप से जाने में तथा देश के दूर-दूर ग्रामों में पहुँचने के लिए असमर्थ होते हैं। परन्तु उनकी बोलती प्रतिमा और

शब्द चित्रपटों द्वारा, दुर्गम पर्वत-प्रदेशों, आटविक प्रान्तों, समुद्र-द्वीपों तक सुविधा से पहुँचाए जा सकते हैं। सोवियट रूस ने अपने नेताओं के वचनों, आदेशों और उपदेशों को साइबेरिया, आरमीनिया, ताज़िकिस्तान, उज़बेकिस्तान आदि दुर्गम प्रदेशों तक चित्रपटों द्वारा पहुँचाया और वहाँ के अर्धसभ्य लोगों को सभ्यता के उच्च स्तर पर लाने में सफलता प्राप्त की।

चित्रपट का एक अन्य लाभ यह भी है कि इससे देश की आर्थिक समृद्धि होती है। यह भी एक व्यवसाय है—जिससे राष्ट्र की आय में वृद्धि होती है और अन्य सहयोगी व्यवसायों को उत्साह प्राप्त होता है। फोटोग्राफी, पेंटिंग, संगीत, वाद्ययन्त्र-संचालन आदि कलाओं की इसके द्वारा सम्पुष्टि होती है और देश के सहस्रों युवक-युवतियों को कला-कुशलता प्राप्त करने के अतिरिक्त जीविकोपार्जन का भी उत्तम साधन उपलब्ध होता है। इस व्यवसाय द्वारा देश में बेकारी का प्रश्न हल करने में पर्याप्त अंश तक सहायता प्राप्त होती है।

किसी भी वस्तु के दुरुपयोग से उसे हानिकारक बनाया जा सकता है। चित्रपट विज्ञान की अद्भुत देन है। मनुष्य जाति के बौद्धिक विकास में यह एक चमत्कारपूर्ण सिद्धि है। पर जहाँ इसके कुछ लाभ है वहां इससे हानियाँ भी पर्याप्त होती हैं।

**चित्रपट की हानियाँ**

भारत में विशेषतया इस अद्भुत आविष्कार का दुरुपयोग किया गया है। कला का उद्देश्य जीवन को अधिक उच्च स्तर पर ले जाना है—केवल कला के उद्देश्य से कला का प्रदर्शन आजकल सर्वथा निरर्थक माना जाता है। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' लक्ष्य की सिद्धि कला से तभी हो सकती है जब उसे जातीय जीवन को उन्नत करने का साधन बनाना जाए। विदेशी शासन में तो चित्रपट द्वारा जान-बूझ कर युवक-युवतियों के चरित्र को पतित करने का यत्न किया गया और केवल शृंगार, प्रेम, मादकता, उच्छृंखलता आदि से युक्त चित्रों द्वारा उन्हें पथभ्रष्ट किया

गया—जिससे वे देश की दासता के विरुद्ध स्वातन्त्र्य-संग्राम में अपना मनोयोग न दे सकें। ऐसा करना विदेशी शासकों के लिए स्वाभाविक ही था। परन्तु खेद तो यह देख कर होता कि अब भी स्वाधीन भारत में वैसे ही अश्लील, दुराचार-प्रोत्साहक चित्रपटों को बहुसंख्या में स्वीकृत किया जाता है और उनके प्रदर्शन से देश की भावी सन्तानों को चरित्र-हीन, निर्बल, नपुंसक एवं पथभ्रष्ट बनाया जाता है।

आजकल के भारतीय युवक-युवतियों में चित्रपटों के प्रति बहुत आकर्षण है। प्रायः उनकी लालसा प्रेमी-प्रेमिकाओं के चुम्बन, आलिंगन एकान्त भाषण आदि को देखने की होती है, अथवा उनके प्रेमालापों, प्रेम-सङ्गीतों, प्रेम-विलापों को सुनने की होती है। उनकी इस रुचि के अनुसार व्यवस्थापक लोग भी ऐसी ही वस्तुओं को उत्पन्न करने में कला, धन, बुद्धि आदि का दुरुपयोग करते हैं। अधिक से अधिक लाभ-संग्रह करने की भावना उन्हें देश के प्रति अपने कर्त्तव्य से च्युत कर देती है। वे नहीं अनुभव करते कि उनकी इस धन-लिप्सा का परिणाम लम्पटता, भोग-लोलुपता, विषयासक्ति, श्रम-शून्यता, राष्ट्रहित-विमुखता आदि उत्पन्न करता है। ऐसे पथभ्रष्ट, दुराचारी कर्तव्य-मूढ़ नवयुवक सेना में जा कर देश-रक्षा का भार नहीं उठा सकते। उनकी निर्बलता और नपुंसकता उन्हें शीघ्र कर्तव्य-क्षेत्र से हटा कर विलास की दलदल में धकेल देती है। हमारे शासकवर्ग को इस सम्बन्ध में बहुत ही शीघ्र सतर्क हो जाना चाहिए और चित्रपटों पर कड़े नियन्त्रण द्वारा उन्हें चरित्र-पतन का साधन बनने से सर्वथा रोक देना चाहिए। राज्य के अंकुश से धनपतियों की धन-लिप्सा को भी कुचला जा सकता है। वस्तुतः इस व्यवसाय को राष्ट्रीयकरण द्वारा एकदम परिमार्जित कर देना ही इस समय परम अपेक्षित है।

चित्रपटों से जहाँ व्यावसायिक उन्नति में सहायता होती है—वहाँ जाति के धन का अपव्यय भी होता है। निर्धन लोग भी प्रायः दूध घी से धन बचा कर, बच्चों के पालन-पोषण में व्यय कम कर के चित्रपटों को

देखने में अपने पसीने की कमाई का दुरुपयोग करते हैं। चित्रपट मनो-रञ्जक होते हुए भी विलास की सामग्री है, जिसको अन्य अत्यन्त अपेक्षित पदार्थों के बलिदान पर प्राप्त करना अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति तथा देश के प्रति अवांछनीय कृत्य है। हाँ, राष्ट्र के द्वारा श्रमिकों को बिना मूल्य सुन्दर, शिक्षाप्रद चित्र दिखाने का प्रबन्ध होना आवश्यक है—जिससे वे अपनी उत्पादक शक्ति को अक्षुण्ण रख सकें और अपने चरित्र को भी उन्नत बना सकें। विद्यार्थियों को भी राष्ट्र द्वारा निःशुल्क शिक्षा-सम्बन्धी चित्रपटों को दिखाने की व्यवस्था होनी चाहिए और उनके द्वारा उनमें देश-प्रेम, कर्तव्य-परायणता, कठोर जीवन, सरल व्यवहार, सत्य-प्रेम आदि उदात्त भावों को भरना चाहिए।

**उपसंहार**

चित्रपटों से मनुष्य के बौद्धिक विकास, भाषा, आचार, विचार आदि पर जितना प्रभाव पड़ता है वह आजकल के बालक-बालिकाओं के मुख पर चढ़े हुए संगीतों, भावभङ्गियों, चेष्टाओं आदि से अत्यन्त स्पष्ट है। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि इन पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाए और इन्हें दुर्व्यवहार दुराचार का उत्तेजक बनने से रोक कर चरित्र-निर्माण का शक्तिशाली साधन बनाया जाए। इसके लिए राष्ट्र द्वारा शिक्षाविज्ञों तथा मनोविज्ञान के विशेषज्ञों का एक पटल ( बोर्ड ) स्थापित होना चाहिए जो धनपतियों के दबाव से ऊपर उठते हुए, निःस्वार्थ एवं निष्पक्ष भाव से उन्हीं चित्रपटों के प्रदर्शन की स्वीकृति प्रदान करें जो जातीय जीवन को स्वस्थ तथा सबल बनाने वाले हों। जो कार्य शिक्षणालयों द्वारा सम्पन्न नहीं किया जा सकता अथवा दीर्घ काल में सम्पन्न किया जा सकता है—वह चित्रपटों के माध्यम से अल्पकाल में ही सफलता-पूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। हमारे राष्ट्र के कर्णधारों को शिक्षा के इस महान् साधन को धन-लोलुप, बुद्धिहीन धनपतियों के हाथ में न छोड़ कर, राष्ट्र के सीधे अधिकार में ले लेना चाहिए और इसके द्वारा राष्ट्र के पुनरुत्थान के चहुँमुखे उद्योग को अधिक वेगवान् बनाना चाहिए।

# २४. मुद्रा का अवमूल्यन

## भूमिका, इंग्लेंड द्वारा अवमूल्यन, भारत द्वारा मुद्रा का अवमूल्यन, भारत पर अवमूल्यन के प्रभाव, उपसंहार

**भूमिका**

अवमूल्यन का अर्थ है, किसी देश की मुद्रा की कीमत को, विनिमय-दर की समता घटा कर कम कर देना। इसके द्वारा दूसरे देश की मुद्रा को अधिक मूल्यवान माना जाता है और उसकी तुलना में अपने देश की मुद्रा को कम कीमत वाला समझा जाता है। देश के भीतर प्रचलित मुद्रा पर इस अवमूल्यन का प्रभाव नहीं होता। बैंकों में पड़े हुए धन की कीमत भी इस अवमूल्यन से नहीं घट जाती। केवल बाहर के देशों की मुद्रा से स्थापित किए हुए आपेक्षिक विनिमय-सम्बन्ध पर इसका प्रभाव पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप उन देशों से आने वाली वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं और अवमूल्यन करने वाले देश से बाहर जाने वाली वस्तुओं की कीमतें घट जाती हैं।

**इंग्लेंड द्वारा अवमूल्यन**

१८ सितम्बर १९४९ को इंग्लेंड के वित्तमंत्री सर स्टेफोर्ड क्रिप्स ने संसार के सम्मुख अकस्मात् इस निश्चय की घोषणा की थी कि पाउंड स्टर्लिंग की विनिमय-दर डालर की तुलना में १ : ४-३० न रख कर १ : २-८० कर दी गई है। इसका अर्थ यह था कि इंग्लेंड के एक पाउंड कीमत वाली वस्तु की कीमत अब अमरीका में ४ डालर ३० सेंट न रह कर केवल २ डालर ८० सेंट रह जाएगी। अथवा दूसरे शब्दों में अमरीका के ४-३० डालर कीमत के पदार्थ को खरीदने के लिए अब एक पाउंड पर्याप्त न होगा। अपितु १ पाउंड ११ शिलिंग की आवश्यकता होगी। इस तरह इंग्लेंड की मुद्रा की विक्रयशक्ति कम हो गई, अथवा उसका अवमूल्यन कर दिया गया।

इस अवमूल्यन का स्पष्ट उद्देश्य यह था कि इंग्लेंड में अमरीका

से आने वाले पदार्थों की कीमत को बढ़ा कर, उनके आयात (Import) को निरुत्साहित किया जाए और अमरीका में जाने वाले पदार्थों की कीमत घटा कर, उनके निर्यात ( Export ) को उत्साहित किया जाए। ऐसा करने का उद्देश्य इंग्लैंड के व्यापार को उत्साहित करना था। सर स्टेफोर्ड क्रिप्स ने कहा था—'हमें अधिकाधिक पदार्थ बेच कर डालर प्राप्त करने हैं। यदि हम ऐसा न करेंगे, तो सदा के लिए अमरीका के ऋणी बने रहेंगे और उससे लिये हुए ऋण से कदापि मुक्त न हो सकेंगे। अपने देश के व्यापार को उन्नत करने से ही हम अपने देशवासियों में बढ़ती हुई बेकारी को रोक सकते हैं और उनके जीवन-स्तर को भी ऊँचा कर सकते हैं।'

गत महायुद्ध के बाद अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए इंग्लैंड को अमरीका से धन तथा सामग्री की बहुत सहायता लेनी आवश्यक थी। मार्शल योजना के अनुसार यह सब सहायता उसे प्राप्त हुई। परन्तु इस कारण इंग्लैंड की ऋणग्रस्तता बढ़ती गई। उसे दूर करने के लिए अवमूल्यन का उपाय सोचा गया। अवमूल्यन द्वारा अपने देश के निर्यात-व्यापार को उत्साहित करने से उपर्युक्त ऋण को चुकाया जा सकता था।

सर स्टेफोर्ड क्रिप्स ने रेडियो पर भाषण देते हुए, यह भी स्पष्ट किया था कि अवमूल्यन से देश के भीतर पदार्थों की कीमतों पर कोई प्रभाव न पड़ेगा, न ही श्रमिकों के वेतनों पर उसका कोई प्रभाव होगा। अवमूल्यन का प्रभाव डालर-क्षेत्र से आने वाली रोटियों अथवा अनाज पर ही पड़ेगा। बाकी सब पदार्थों को अन्य देशों से मँगा कर महँगाई को रोका जा सकेगा।

**भारत द्वारा मुद्रा का अवमूल्यन**

इंग्लैंड द्वारा अवमूल्यन की घोषणा के साथ ही सर स्टेफोर्ड क्रिप्स की प्रेरणानुसार, लगभग २५ अन्य देशों ने भी अपनी-अपनी मुद्राओं का उसी अनुपात में अवमूल्यन कर दिया। भारत ने अवमूल्यन इसीलिए स्वीकार

किया, क्योंकि अपने आर्थिक हित के लिए ऐसा करना अनिवार्य था।

अब भारत का रुपया अमरीका के २१ सेंट के बराबर है—पहले यह लगभग ३० सेंट के बराबर था। इंग्लेंड की मुद्रा के साथ इसका विनिमय-दर यथापूर्व १ रु० = १ शि० ६ पेंस रहा है। अंग्रेज़ी राज्यकाल में हमारी मुद्रा का सम्बन्ध इंग्लेंड की मुद्रा से रहा है। उसके अवमूल्यन के साथ हमारी मुद्रा का अवमूल्यन होना आवश्यक ही था। अन्यथा इंग्लेंड से आने वाले पदार्थों की कीमतें बहुत चढ़ जातीं और भारत में महँगाई का कष्ट और भी अधिक हो जाता। प्रधानमन्त्री श्री जवाहर-लाल ने अवमूल्यन की अनिवार्यता को स्पष्ट करते हुए अपने रेडियो भाषण में कहा था कि 'अवमूल्यन से देश के भीतर कीमतों के बढ़ जाने का कोई कारण नहीं और इसीलिए जीविका का कठिन हो जाना आवश्यक नहीं।'

परन्तु अर्थशास्त्र के अध्यापक श्री सी० एन० वकील का कथन था कि 'क्योंकि हम खाद्य-पदार्थों तथा अन्य उत्पत्ति-सहायक कृषि-साधनों के लिए अमरीका पर आश्रित हैं, अतः अवमूल्यन से इनकी कीमतों का बढ़ जाना अवश्यम्भावी है और इसके द्वारा महँगाई की कठिनाइयों का पैदा हो जाना अनिवार्य है'। श्री कृष्णमाचारी ने भी इसी विचार का समर्थन किया कि 'अवमूल्यन से देश के भीतर कीमतों का बढ़ जाना नहीं रोका जा सकता।' गत वर्षों के अनुभव से इन विचारों की यथार्थता की पुष्टि ही होती है।

पाकिस्तान सरकार ने अपनी देश की मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया, क्योंकि उसकी सम्मति में ऐसा करना देश के लिए अहितकर था और उसकी आर्थिक उन्नति में बाधक था। जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा करने के लिए व्यापार और व्यवसायों का उन्नत होना आवश्यक था, परन्तु रुपये की कीमत कम कर देने से उत्साह शिथिल हो जाता। अवमूल्यन स्वीकार न करने के परिणामस्वरूप पाकिस्तान के १००) रु० की कीमत भारत के १४४) रु० के बराबर हो गई। दूसरे शब्दों में

पाकिस्तान की १००) रुपये की वस्तु खरीदने के लिए भारत को पहले १००) भेजने पड़ते थे, अब से १४४) रु० भेजने पड़ते हैं। पाकिस्तान को अपनी बेची हुई वस्तुओं के लिए भारत से अधिक रुपए प्राप्त होते हैं और उसका व्यापार चमक उठा है। पाकिस्तान को अमरीका से मँगाये गये पदार्थों की कीमत पहले जैसी ही देनी होती है, पहले से अधिक नहीं देनी पड़ती। पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन न करके भारत को दिये जाने वाले कर्जे को भी केवल विनिमय-दर द्वारा साफ कर दिया है, क्योंकि भारत को अब माल के बदले में बहुत अधिक रुपये देने पड़ते हैं।

भारत ने पाकिस्तान की इस मुद्रा-सम्बन्धी चाल का उत्तर उससे अपना व्यापार सर्वथा बन्द करके दिया। भारत ने अनाज, कपास, पटसन आदि सब पदार्थ पाकिस्तान से न ले कर अन्य देशों से लेने प्रारम्भ किए। पाकिस्तान की मंडियों में सब पदार्थ गलने-सड़ने लगे, किन्तु इधर भारत के कुछ कारखाने भी पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल न मिलने के कारण बेकार हो गए। इस कृत्रिम अवस्था का अधिक देर तक टिकना कठिन था, अतः परस्पर व्यापारिक समझौते द्वारा विनिमय-दर की कठिनाइयों को दूर कर दिया गया।

**भारत पर अवमूल्यन के प्रभाव**

भारत द्वारा अवमूल्यन स्वीकार करने के प्रभाव निम्नलिखित दिशाओं में स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि अवमूल्यन भारत के लिए हितकर सिद्ध हुआ है या अहितकर। अवमूल्यन के प्रभाव अभी तक जाँच का विषय बने हुए हैं :—

**जीविका-व्यय ( Cost of living ) :**—डालर-क्षेत्र के पदार्थ भारतवासियों के जीवन में प्रायः कम प्रयोग में लाए जाते हैं। नगर-निवासी लोग अवश्य अमरीका से भोग-विलास की सामग्री मँगाते हैं और उसका प्रयोग करते हैं। परन्तु देश की ग्रामवासी जनता प्रायः अपने खाने, पहनने, रहने के सब सामान देश से ही प्राप्त करती है।

कुछ अंश तक कपड़े तथा मिट्टी का तेल—ये दो वस्तुएँ ही बाहर के देशों से आई हुई, ग्रामों में प्रयोग में लाई जाती हैं। ये दोनों वस्तुएँ यदि अमरीका से न मँगा कर, अन्य देशों से मँगाई जाएँ, तो ग्राम-वासियों के जीवन-व्यय को बढ़ने से बचाया जा सकता है। साधारणतया भारत को कपास, मशीनरी, औषध, तेल, कागज आदि सब आवश्यक वस्तुओं का स्टर्लिंग क्षेत्र से मँगाना हितकर है, क्योंकि तब अधिक मूल्य नहीं देना पड़ेगा। इस तरह व्यय पर होने वाले अवमूल्यन के प्रभावों पर अंकुश रखा जा सकता है।

(ख) कृषि ( Agriculture ):—भारतवर्ष को शीघ्र ही अनाज के सम्बन्ध में पूर्ण आत्मनिर्भर होना है। अभी तक लगभग १५० करोड़ रुपए का अनाज प्रतिवर्ष बाहर के देशों से मँगाया जाता है। इसी वर्ष अमरीका से लाखों टन अनाज मँगाया गया है। अवमूल्यन के फलस्वरूप आगे से डेढ़ गुना अधिक कीमत हमें इस अनाज की चुकानी पड़ती है। इस दुष्परिणाम से बचने का एकमात्र उपाय अपने देश की कृषि को वैज्ञानिक साधनों द्वारा समुन्नत करना है।

हमें पाकिस्तान से भी अनाज, कपास, पटसन मँगाना सर्वथा बन्द कर देना चाहिए, क्योंकि ये सब पदार्थ उसके अवमूल्यन स्वीकार न करने के कारण ४४ प्रतिशत महँगे हो गए हैं। पाकिस्तान के व्यापार को बिल्कुल खतम कर देने में ही हमारे देश का लाभ है। देश की कृषि उन्नत करने से पर्याप्त पटसन और कपास भी उत्पन्न किया जा सकता है।

(ग) उद्योग ( Industries ):—हमें अपने उद्योग-धन्धों के लिए आवश्यक सब मशीनरी डालर-क्षेत्रों से अतिरिक्त क्षेत्रों से ही मँगानी होगी। सब से प्रथम कृषि-सम्बन्धी उपकरणों का मँगवाना आवश्यक होगा, और वह भी उन्हीं देशों से, जिनमें मुद्रा की कीमत रुपये के समान ही डालर के बदले कम हो चुकी हो। उत्पत्ति के अन्य सब साधनों को भी इन्हीं देशों से मँगाने पर अपने उद्योग-धन्धों के उत्पादन-

व्यय को नीचा और वस्तुओं की महँगाई पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। अपने देश की व्यावसायिक उन्नति में बाधा न पड़ने के लिए अवमूल्यन के दुष्प्रभावों से बचना होगा।

(घ) व्यापार ( Trade ) :—अवमूल्यन से हमारे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अमरीका व पाकिस्तान के सिवाय किसी अन्य देश के साथ बाधा उपस्थित नहीं हुई। अवमूल्यन से हमारे देश के निर्यात-पदार्थों की कीमतें घट गई हैं और उनके व्यापार में वृद्धि हुई है।

इंग्लैंड के निर्यात पदार्थों की अमरीका में अधिक माँग हो जाने से, हम वहाँ से अधिक पदार्थ प्राप्त नहीं कर रहे। इससे हमारे व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना अनिवार्य है, हमारे ६५ प्रतिशत आयात पदार्थ स्टर्लिंग क्षेत्रों से आते हैं। शेष ३५ प्रतिशत डालर-क्षेत्रों से आते हैं। उनके लिए ४४ प्रतिशत अधिक कीमत देनी पड़ती है। यदि उन्हें स्टर्लिंग-क्षेत्रों से प्राप्त नहीं किया जाएगा, तो यह अपने देश के व्यापार के लिए हानिकारक होगा।

हमारे निर्यात पदार्थ प्रायः कच्चे माल के हैं, जो पहले ही सस्ते थे। अवमूल्यन से वे और भी अधिक सस्ते हो गए हैं और अमरीका आदि देशों को बिना माँग कम कीमत पर मिल रहे हैं। विभाजन से पूर्व भारत के निर्यात-व्यापार का ६६ प्रतिशत पटसन से बनी हुई वस्तुओं का ही था। इससे भारत को बहुत आमदनी थी। पाकिस्तान ने अवमूल्यन न करके अपने पटसन-व्यापार को स्वयमेव ही निरुत्साहित कर दिया है। भारत के कारखाने भी पाकिस्तान से पटसन न मिलने से बन्द हो रहे हैं। भारत को पटसन की अधिक उत्पत्ति करनी आवश्यक होगी, जिससे वह अपने निर्यात-व्यापार को पूर्वावस्था में ला सके। हमारा व्यापार तभी लाभदायक हो सकता है, जब कि निर्यात-पदार्थों का बाहर भेजा जाना बढ़ाया जा सके।

भारत को अवमूल्यन की स्वीकृति के बाद अब उससे होने वाली हानियों से बचना और लाभ का संग्रह करना चाहिए। अव-

मूल्यन से हमारे निर्यात-व्यापार को बहुत उत्साह प्राप्त हो सकता है।'

**उपसंहार**

पटसन, चाय, तम्बाकू, तेल के बीज, चमड़ा, मेंगनीज आदि पदार्थों को बड़ी मात्रा में बाहर भेजा जा सकता है। देश के उत्पादन को बढ़ा कर निर्यात-पदार्थों के व्यापार को शीघ्र ही उत्साहित करना चाहिए, इसी में देश की समृद्धि है।

---

## २५. भारत पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव

**भूमिका, भारतीय संस्कृति पर प्रभाव, आर्थिक संघटन पर प्रभाव, राजनीतिक जीवन पर प्रभाव, उपसंहार**

पाश्चात्य सभ्यता से अभिप्राय उस सभ्यता से है, जिसका जन्म युरोप के भिन्न-भिन्न देशों में राजनीतिक तथा औद्योगिक क्रान्ति के बाद

**भूमिका**

हुआ। इस सभ्यता के विकास के साथ उन देशों में रहने वाले व्यक्तियों के विचार, आचार, व्यवहार, परस्पर सामाजिक सम्बन्ध आदि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। राष्ट्र, जाति, समाज आदि तत्त्वों की चेतना इस सभ्यता में दृढ़ रूप से आविर्भूत हुई और इस चेतना ने प्राचीन समय से आती हुई धर्म-भावना को अन्तर्हित कर दिया। इस सभ्यता में राजनीति, शासन-सत्ता, आर्थिक अभ्युदय, साम्राज्य-निर्माण आदि प्रवृत्तियों ने प्राधान्य प्राप्त किया और इनकी साधना को उन्नति का प्रतीक माना गया। मशीन के आविष्कार के साथ भोग्य पदार्थों की तीव्र गति से वृद्धि होने लगी और भोग्य पदार्थों से वञ्चित जातियों को पिछड़ा हुआ अर्थात् बर्बर कहा जाने लगा।

भारत का सम्पर्क सब से प्रथम युरोप की पुर्तगाली जाति से हुआ, जिसके एक साहसी सामुद्रिक वास्को द गामा ने इस देश का पता लगाया। उसने वापस जा कर भारत को 'सोने की चिड़िया' रूप में चित्रित

किया, जिसके कारण युरोप की अन्य सभ्य कहलाने वाली जातियों की उस पर लोभ एवं दूस्युता की दृष्टि पड़ने लगी। क्रमशः डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ इस देश में आए। अंग्रेज़ों ने लगभग १५० वर्ष तक भारत में शासन किया। १९४७ में ही वे यहाँ से बिदा हुए। इस जाति ने अपने शासन-काल में भारत की शिक्षा-पद्धति, न्याय-व्यवस्था, राजा-प्रजा-सम्बन्ध, कृषि, व्यवसाय, धर्म और सदाचार में—वस्तुतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी सभ्यता का प्रभाव उत्पन्न किया और देश का कायाकल्प कर दिया।

**भारतीय संस्कृति पर प्रभाव**

पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क के साथ भारतीय संस्कृति पर जो गहरा प्रभाव पड़ा है, वह कई दिशाओं में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। अंग्रेज़ी राज्य के चले जाने के बाद भी, सभ्यता का वह प्रभाव सुस्थिर है। शायद यह सदियों तक सुस्थिर रहेगा।

संस्कृति जीवन-प्रकार (Way of life) का नाम है। हम जिस भी शैली से रहते-सहते, उठते-बैठते, खाते-पीते, बोलते-चालते, वेशभूषा पहनते, परस्पर सहानुभूति या समवेदना रखते तथा व्यापार-व्यवसाय आदि में व्यवहार करते हैं—वह सब संस्कृति के अन्तर्गत है। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क का इन सब पर निश्चित तथा अमिट प्रभाव पड़ा है।

पहले हम सादा रहना पसन्द करते थे। हमारी आवश्यकताएँ स्वल्प होती थीं। हम मिताहार एवं मितव्यय में विश्वास रखते थे। प्राचीन ग्रामों में परस्पर सहानुभूति तथा सद्भाव का पारिवारिक जीवन व्यतीत किया जाता था। प्रत्येक व्यक्ति ग्राम के सन्तुष्ट जीवन से सन्तुष्ट था, स्वावलम्बी था, दूसरे का हितचिन्तक था, अपने समुदाय की सर्वांगीण उन्नति में भाग लेने वाला था। नगरों में भी—कुछ अंश कम—इन्हीं सामाजिक बन्धनों का पालन करने वाले, मर्यादा में रह कर अपनी उन्नति की कामना करने वाले, आत्मनिर्भर परन्तु निःस्वार्थ व्यक्ति निवास करते थे।

पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क के साथ ही ग्रामों तथा नगरों के उपयुक्त

नैतिक संघटन का टूटना प्रारम्भ हुआ। संस्कृति के वे उदात्त तत्व, जिन से भारत का मस्तक ऊँचा था, प्रायः लुप्त होने लगे, और परार्थ के स्थान पर स्वार्थ, प्रेम के स्थान पर विद्वेष तथा सामाजिक चेतना के स्थान पर वैयक्तिक प्रेरणा ने घेरा डालना शुरू किया। पाश्चात्य सभ्यता के आने के बाद भारतीय युवक-युवतियों, स्त्रियों वा पुरुषों में वह सदाचार नहीं रहा, जो उनमें पहले होता था। अतिथि-सेवा, समाज-सेवा, दान, उपकार, त्याग, सरलता, मधुरभाषिता, परस्पर प्रेम इत्यादि गुणों का तीव्रता से ह्रास हो गया, और इनके विपरीत गुणों की वृद्धि हो गई। आज देश में बढ़ती हुई रिश्वतखोरी, चोरबाजारी, भ्रष्टाचार, अकर्मण्यता धन-लोलुपता आदि समाज-नाशक प्रवृत्तियाँ, इसी पाश्चात्य सभ्यता की देन हैं।

पाश्चात्य सभ्यता का आधार औद्योगिक क्रान्ति है। युरोप में इस क्रान्ति के बाद, पदार्थों का मशीनरी की सहायता से बड़े पैमाने पर उत्पन्न होना प्रारम्भ हुआ। भारत पर भी इस औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव पड़ा—जिसके परिणाम स्वरूप छोटे-छोटे उद्योगों का अन्त हुआ और उनमें लगे हुए आत्म-सन्तुष्ट, आत्मनिर्भर ग्रामनिवासियों को अपने घरेलू धन्धे छोड़ कर, जीविकोपार्जन के लिए बड़े-बड़े नगरों में जा कर कारखानों में केवल श्रमिक के रूप में, मशीन के निर्जीव पुर्जों के समान, काम करना पड़ा। पाश्चात्य नवीन आर्थिक संघटन ने धीरे धीरे पुराने ग्रामाश्रित आर्थिक संघटन को तोड़ दिया और पश्चिमी देशों का आर्थिक संघर्ष ही जीवन का एकमात्र कार्य बच गया। इस आर्थिक विप्लव ने मनुष्य की आत्मा को कुचल दिया और रोटी कमाना ही मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य बन गया। 'सादा जीवन तथा ऊँचे विचार' का महान् भारतीय आदर्श इस नवीन संघटन से सर्वथा लुप्त हो गया।

**आर्थिक संघटन पर प्रभाव**

पाश्चात्य सभ्यता का हमारे देश के राजनीतिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसका सबसे प्रमुख दृष्टान्त राजनीति के अपने

महत्त्व का बढ़ जाना है। आज चारों तरफ राजनीति, राजनीतिज्ञ, संविधान, विधानसभा, शासन-सत्ता—आदि की ही चर्चा है। समाचार-पत्र-पत्रिकाएँ, वर्तमान साहित्य इन्हीं के वर्णन से भरा हुआ है। इस राजनीति के महत्त्व के सम्मुख, अन्य आध्यात्मिक विद्याओं, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान, प्रकृति विज्ञान आदि सब का महत्त्व फीका पड़ गया है। प्राचीन भारत में राजाओं के आने जाने, राज्यों के परिवर्तन, विप्लव, युद्ध, क्रान्ति आदि के क्षणिक विषय अध्ययन, विश्लेषण अथवा विचार-विमर्श का विषय न होते थे। अतएव इतिहास लिखने की तरफ ही ध्यान न दिया जाता था। परन्तु अब तो ये ही क्षणिक विषय विद्वानों, वैज्ञानिकों एवं विचारकों के सबसे अधिक ध्यान का पात्र बन चुके हैं। यह सब पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क का ही परिणाम है।

**राजनीतिक जीवन पर प्रभाव**

हमारे देश का नवीन संविधान कुछ वर्ष पूर्व ही तैयार हुआ है। कौन इन्कार कर सकता है कि इस संविधान की एक-एक धारा पर पाश्चात्य सभ्यता की छाप नहीं। वस्तुतः इंग्लैंड, फ्रांस, अमरीका, स्विटज़रलैंड, रूस आदि के सविधानो को सामने रख कर ही भारतीय संविधान की समस्त रूपरेखा का चित्रण किया गया है। गणराज्य, जनतन्त्रप्रणाली, राष्ट्रपति, मन्त्रिमंडल, विधान-सभा, संसद्-उत्तरदायित्व लोकमत—आदि संविधान-सम्बन्धी परिभाषाएँ तथा विचार पश्चिम के देशों की ही नकल हैं। भारत का अर्वाचीन राजनीतिक प्रवाह पाश्चात्य विचार-प्रवाहिनी का एक अंश मात्र ही है। वह हमारे देश के अनुकूल होगा या नहीं, जनहितसम्पादन का साधन बन सकेगा या नहीं—यह भविष्य ही निश्चय कर सकेगा। इतना तो स्पष्ट है कि हम राजनीतिक जीवन में पश्चिम के ही अनुगामी बन रहे हैं।

पाश्चात्य सभ्यता हमारे देश के लिए अहितकर ही सिद्ध हो रही है, ऐसा हमारा मत नहीं है। हमने पाश्चात्य देशों के सम्पर्क से विज्ञान, समाजवाद, जातीय जागृति, राष्ट्रप्रेम, स्वतन्त्रतानुराग, कर्मण्यता आदि

कई नवीन तत्त्वों को सीखा है जो भारतीय सभ्यता में उपेक्षित अवस्था में थे। हमारी संस्कृति का भाग्यवाद, हमारे देश की अवनति का मूल कारण था। इससे हमारी स्वाधीनता का अपहरण हुआ। अब पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से हमने जातीय स्वात्माभिमान के महत्त्व को समझा है और दासता की शृंखलाओं को तोड़ दिया है। अब हमें इस स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है—और पुनः किसी भी स्थिति में इसका अपहरण नहीं होने देना। पाश्चात्य सभ्यता की मूल्यवान् देनों को अखण्डित रखते हुए, हमें भारतीय संस्कृति की परम्परागत भित्ति पर अपने नवीन स्वतन्त्र स्वावलम्बी, तथा बलवान् राष्ट्र का पुनः निर्माण करना है।

उपसंहार

---

## २९. नागरिकों के कर्तव्य तथा अधिकार

### भूमिका, नागरिकों के अधिकार, नागरिकों के कर्तव्य आदर्श नागरिक, उपसंहार

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अकेला रह कर अपनी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता। वह समाज में रह कर ही जीवन धारण कर सकता है और उस जीवन को उत्तम बना सकता है। मनुष्यों की इस सामाजिकता के आधार पर ही नागरिकता का जन्म हुआ।

भूमिका

प्राचीन योरोप में एथेंस, स्पार्टा आदि छोटे-छोटे नगर-राष्ट्र होते थे। उन नगर-राष्ट्रों में रहने वाले व्यक्ति नागरिक कहलाते थे। अब जातीय राष्ट्रों के बन जाने के साथ, देश में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को नागरिक कहा जाता है, जो उस देश के प्रति प्रेम और भक्ति के भावों को अनुभव करता है। साधारणतया प्रत्येक देश के नागरिक उसी में उत्पन्न, पालित अथवा पोषित हुए होते हैं किन्तु विशेष अवस्थाओं में विदेशियों को भी नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

जनतन्त्र शासन-प्रणाली की स्थापना के साथ नागरिकों के अधिकारों में बहुत वृद्धि हुई है। इंग्लेंड, अमरीका आदि देशों में नागरिकों को जो अधिकार प्राप्त हैं, वे उन देशों में, जहाँ एकतन्त्र शासन हैं, प्राप्त नहीं। निम्नलिखित कुछ ऐसे अधिकार हैं, जो प्रायः स्वतन्त्र राष्ट्रों में सब नागरिकों को प्राप्त हैं :—

**नागरिकों के अधिकार**

(क) **स्वरक्षा**—प्रत्येक नागरिक का अधिकार है कि वह अपने राष्ट्र से अपने जीवन तथा अपनी सम्पत्ति की रक्षा प्राप्त करे। प्रत्येक राष्ट्र अपने नागरिकों के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा के लिए सेना, पुलिस, अदालत आदि का संघटन करता है।

(ख) **धर्म-स्वातन्त्र्य**—प्रत्येक नागरिक का अधिकार है कि वह अपने धर्म पर अपनी इच्छानुसार आचरण कर सके। राष्ट्र का उसके धर्म में हस्तक्षेप करना अनुचित है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि कोई व्यक्ति अपने धर्माचरण से किसी दूसरे की धर्मभावना को ठेस पहुँचाए।

(ग) **विचार-स्वातन्त्र्य**—प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचारों को स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रकट करने का पूरा अधिकार है। परन्तु इस अधिकार का भी यह अभिप्राय नहीं कि किसी व्यक्ति को निरर्गल बोलने वा लिखने की स्वच्छन्दता है। प्रायः सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों में देश-विद्रोह, धर्माक्षेप तथा अपमानजनक भाषण वा लेख लिखने की मनाही की जाती है।

(घ) **निवास-स्वातन्त्र्य**—राष्ट्र का नागरिक देश के किसी भाग में जाने और निवास करने की पूरी स्वतन्त्रता रखता है। उसका यह भी अधिकार है कि वह किसी अन्य देश में चला जाए और वहाँ भी अपने राष्ट्र से अपने हितों की रक्षा की अपेक्षा करे।

(ङ) **व्यवसाय-स्वातन्त्र्य**—राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का अधिकार है कि वह स्वतन्त्रता-पूर्वक जिस किसी व्यवसाय को करना चाहे कर सके।

अपने व्यवसाय वा व्यापार आदि के कार्य के लिए प्रत्येक नागरिक ऋण ले सकता है अथवा दे सकता है। इस लेन-देन में न्याय का स्थापित करना राष्ट्र का कर्तव्य है।

**(च) पारिवारिक स्वातन्त्र्य**—प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि इसके पारिवारिक सम्बन्ध में कोई अनुचित हस्तक्षेप न किया जाए।

**(छ) पदाधिकार**—प्रत्येक नागरिक का चाहे वह धनी हो या निर्धन, अधिकार है कि राष्ट्र का प्रत्येक पद उसकी योग्यता के अनुसार उसे प्राप्त हो सके। इस सम्बन्ध में धर्म, जाति, वर्ण वा सामाजिक स्थिति का विवेक न होना चाहिए।

**(ज) निर्वाचन अधिकार**—प्रत्येक नागरिक अपने देश की विधान-सभाओं में सभासद् निर्वाचित होने का तथा उनके निर्वाचन में सम्मति प्रदान करने का अधिकार रखता है।

**(झ) शिक्षा-अधिकार**—प्रत्येक नागरिक राष्ट्र से अपेक्षा रख सकता है कि वह उसकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध करे। प्रायः सभी उन्नत देशों में बाधित प्रारम्भिक शिक्षा देना राष्ट्र का परम कर्तव्य माना जाता है।

**(ञ) निर्वाह-प्राप्ति का अधिकार**—राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को निर्वाह प्राप्त करने का अधिकार है। जीविका का प्रबन्ध करना न केवल व्यक्ति का अपना कर्तव्य है, परन्तु राष्ट्र का भी कर्तव्य है। इंग्लैंड आदि सब सभ्य देशों में प्रत्येक व्यक्ति को जीविका न रहने पर निर्वाह के लिए अपेक्षित सहायता दी जाती है। विशेषतया वृद्धावस्था में, जब काम करने की सामर्थ्य जाती रहती है—सरकार द्वारा नागरिकों की सहायता की जाती है।

भारत के नवीन संविधान में राष्ट्रनीति के प्रेरक सिद्धान्तों में उपर्युक्त सब अधिकारों को स्वीकार किया गया है। कुछ को मूल-अधिकार रूप में मान लिया गया है।

परन्तु अधिकारों से अधिक आवश्यक नागरिकों के कर्तव्य हैं—जिन्हें राष्ट्र के प्रति उन्हें पालन करना है। प्रत्येक नागरिक को अधिकार की अपेक्षा करने से पूर्व अपने कर्तव्य का ज्ञान होना चाहिए।

**नागरिकों के कर्तव्य**

निम्नलिखित कुछ नागरिक कर्तव्य हैं—जिनका ज्ञान होना प्रत्येक नागरिक के लिए अत्यन्त आवश्यक है :—

**(क) स्वदेश-भक्ति**—प्रत्येक नागरिक का परम कर्तव्य है कि वह अपने देश के प्रति अगाध प्रेम तथा अनन्य भक्ति के भाव रखे। अपने राष्ट्र के लिए किसी भी त्याग करने के लिए, जीवन भी देना पड़े तो जीवन की आहुति देने में, संकोच न करे।

न केवल युद्ध के समय में ही, अपितु किसी अन्य आन्तरिक अशान्ति के समय में भी देश की सहायता करना अत्यन्त आवश्यक है। सेना वा पुलिस में स्वयं भर्ती हो कर इस कर्तव्य का पालन करना उचित है।

**(ख) कानूनों का पालन**—प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के कानूनों का पालन करे। इन कानूनों की अवज्ञा करना राष्ट्र की अवज्ञा करना है। विशेषतया जनतन्त्र राष्ट्रों में, जहाँ नागरिकों से निर्वाचित व्यक्ति ही नियमों का निर्माण करते हैं, नियमों का भंग करना सर्वथा हास्यास्पद एवं विरोधात्मक है।

**(ग) कर-प्रदान**—सेना और कोष किसी राष्ट्र के दो बड़े स्तम्भ होते हैं। नागरिकों का कर्तव्य है कि धन द्वारा राष्ट्र के कोष को पूर्ण रखें और उसके लिए कर देने में कभी संकोच न करें। राष्ट्र को दिया हुआ धन सार्वजनिक हित के कामों पर ही व्यय किया जाता है।

**(घ) पद-स्वीकृति**—राष्ट्र का अधिकार है कि किसी व्यक्ति को किसी समय किसी पद पर, वैतनिक या अवैतनिक सेवा करने के लिए, नियुक्त कर सके। प्रत्येक नागरिक को ऐसी सेवा करने के लिए सदा उद्यत रहना चाहिए, और किसी पद को स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

**(ङ) मत-प्रदान**—निर्वाचन के समय अपनी सम्मति या वोट देना भी प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। जो व्यक्ति इस कर्तव्य का पालन नहीं करता, वह नागरिकता के धर्म को नहीं समझता।

**(च) शिक्षा-ग्रहण**—प्रत्येक माता-पिता का कर्तव्य है कि वह अपनी सन्तान को शिक्षित करे। यह राष्ट्र का ही कर्तव्य नहीं कि वह अपने नागरिकों को शिक्षा दे। नागरिकों का अपना भी कर्तव्य है कि स्थान-स्थान पर संस्थाएँ खोल कर प्रत्येक बालक वा बालिका को कम से कम प्रारम्भिक शिक्षा से शिक्षित करें।

**(छ) निर्वाह-सम्पादन**—प्रत्येक नागरिक को किसी न किसी निर्वाह-कार्य में लग जाना आवश्यक है, अन्यथा वह समाज पर बोझ के समान होगा। भीख माँग कर खाना समाज-विरोधी अपराध है। बिना परिश्रम किए, निठल्ला रहना अथवा पैतृक सम्पत्ति पर आश्रित रहना भी नागरिकता के प्रतिकूल है।

**आदर्श नागरिक**

आदर्श नागरिक वह है जो अपने देश के लिए तन, मन, धन, देने के लिए सदा उद्यत रहता है, जो वैयक्तिक हितों की अपेक्षा सामाजिक हित का अधिक चिन्तन करता है, स्वार्थ से दूर रहता है, स्वयं शिक्षित बनता है और अन्य नागरिकों को शिक्षित करना अपना कर्तव्य मानता है और कभी भी अकर्मण्यता का शिकार न बन कर नागरिक-धर्मों के पालन में सदा उद्यत रहता है। भारतवर्ष में ऐसे योग्य, कर्तव्य-परायण नागरिकों की अत्यन्त आवश्यकता है। तभी देश उन्नति-मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

**उपसंहार**

अधिकार तथा कर्तव्यों में कर्तव्य का स्थान प्रथम है। कर्तव्य-पालन के बाद ही नागरिक को अधिकार की अपेक्षा करनी चाहिए। बिना कर्तव्य-पालन किए अधिकारों की अपेक्षा करने का उसे अधिकार ही नहीं। राष्ट्र को उन्नति के शिखर पर ले जाना नागरिक का परम कर्तव्य है। राष्ट्र के लिए अपने हित, स्वार्थ, अथवा अधिकारों का बलिदान कर देना

उसका परम कर्तव्य है। राष्ट्र के सुरक्षित, सुव्यवस्थित तथा समुन्नत हो जाने पर अधिकारों की प्राप्ति तो स्वयं हो जाती है।

---

## २७. वर्गहीन समाज

### भूमिका, वर्गहीन समाज का स्वरूप, वर्गहीन समाज की आवश्यकता, भारत में इसका महत्त्व, उपसंहार

**भूमिका**

बीसवीं शताब्दी की सब से प्रबल विचार-धारा समाजवाद की है। इसके अनुसार व्यक्ति की अपेक्षा समाज अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति का हित समाज के हित के सम्मुख गौण है। यदि समाज के हित-सम्पादन के लिए, व्यक्ति के हितों का बलिदान भी कर देना पड़े—तो वह अनुचित नहीं।

पूँजीवादी समाज में अधिकतम संख्या के कल्याण का चिन्तन नहीं किया जाता। इसमें अल्पसंख्यक लोग समृद्ध होते हैं। वे अपने धन-बल से सहस्रों की संख्या में श्रमिकों को अपना दास बनाते हैं और क्षुद्र सा वेतन दे कर, उनके परिश्रम का सब फल स्वयं भोगते हैं। ऐसे पूँजीवाद-प्रतिष्ठित समाज में दो वर्ग स्पष्टतया बन जाते हैं—एक शोषित-वर्ग, जिसके रक्त का शोषण किया जाता है और दूसरा शोषक वर्ग, जो परिश्रम करने वालों के रक्त का शोषण करता है।

**वर्गहीन समाज का स्वरूप**

वर्गहीन समाज वह है, जिसमें इन शोषक-शोषित वर्गों को समाप्त कर दिया जाता है और एक ऐसे समताश्रित सामाजिक संघटन का निर्माण किया जाता है, जिसमें किसी को दूसरे के परिश्रम का फल भोगने का अधिकार नहीं होता। ज़मींदारों को कृषकों की तथा पूँजीपतियों को मजदूरों की मेहनत का फल नहीं मिलता—प्रत्येक को अपने परिश्रम का ही फल मिलता है। न केवल ज़मींदारी और व्यवसायों के क्षेत्र में, अपितु किसी भी अन्य क्षेत्र में यह ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं रहने दिया जाता।

राजकर्मचारियों में वेतन की विषमता दूर कर दी जाती है और प्रत्येक को सम्मानपूर्ण जीविका कमाने का अवसर दिया जाता है। वर्गहीन समाज में किसी भी व्यक्ति को अधिक धनाढ्य नहीं बनने दिया जाता और न किसी को सर्वथा निर्धन रहने दिया जाता है।

**वर्गहीन समाज की आवश्यकता**

वर्गहीन समाज क्यों स्थापित किया जाए? क्या ऐसा करने से मनुष्य-समाज को लाभ होगा, या हानि? क्या ऐसा समाज स्थापित करना सम्भव भी है।

मनुष्य की प्राकृतिक प्रेरणा स्वत्व और स्वामित्व उत्पन्न करने की ओर है। वह अपनी अथवा अपने परिवार की समृद्धि के लिए अनथक परिश्रम कर सकता है। परन्तु यदि उसे समाज-हित के लिए अपना परिश्रम वा पूँजी लगाने के लिए कहा जाय तो वह संकोच करता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही आत्मोदय के प्रति है—वह समाज के अभ्युदय को वहीं तक सोचता है, जहाँ तक वह उसके अपने अभ्युदय में बाधक नहीं।

यह सब सत्य है। मनुष्य स्वार्थ का पुतला है। वह किसी भी परार्थ भावना से परिश्रम करना अथवा पूँजी का प्रयोग करना पसन्द नहीं करता। यह मानव-स्वभाव का अंग ही है।

परन्तु यह कहाँ तक उचित है? राजनीतिक क्षेत्र में एकतन्त्र को इसी लिए समाप्त किया गया, क्योंकि इसका उद्देश्य केवल एक व्यक्ति की स्वार्थ-भावना को पूर्ण करना था। आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद का भी अन्त किया जाना इसी कारण से वांछनीय है। इसमें तो स्वार्थपरता चरम सीमा तक पहुँच जाती है। वर्गहीन समाज स्थापित करने पर ही इस घोर अन्याय का अन्त किया जा सकता है। आज मनुष्य जाति का ६० प्रतिशत भाग शोषित वर्ग का है, जो पूँजीपतियों द्वारा शोषित किया जा रहा है। जिस प्रकार स्वेच्छाचारी राजाओं और बादशाहों से मनुष्य समाज ने मुक्ति पा ली है—इसी तरह पूँजीवादी शोषकों से भी मोक्ष पाना आवश्यक है—तभी उसका सच्चा कल्याण हो सकता है। रूस तथा चीन

में श्रमिकों, किसानों एवं अन्य शोषित वर्गों ने ऐसी मुक्ति प्राप्त कर ली है और वहाँ वर्गहीन समाज की स्थापना प्रायः हो चुकी है। भारत में भी ऐसे ही न्याय-प्रतिष्ठित, मनुष्यता-समाश्रित समाज स्थापित करने की अत्यन्त आवश्यकता है। वही वास्तविक स्वतन्त्रता होगी—वही सच्चा स्वराज्य होगा।

कहा जाता है कि वर्गहीन समाज स्थापित हो जाने से उत्पादन में कमी हो जाएगी। वैयक्तिक लाभ की प्रेरणा न रहने से कोई भी व्यक्ति पूर्ण परिश्रम से उत्पादन का कार्य न करेगा और सब व्यवसाय और उद्योग-धन्धे लाभ पैदा न करने के कारण बन्द कर दिए जाएँगे। इस से अन्न, वस्त्र तथा आवश्यक वस्तुओं की न्यूनता हो जाएगी और देश की सम्पत्ति में बहुत क्षति होगी।

पूँजीवाद के पक्षपातियों का यह भय सर्वथा निराधार है। वे पदार्थों की कमी का, कहत और दुर्भिक्ष का भूत दिखा कर अपने स्वार्थ के गढ़ों को अलंघ्य बनाना चाहते हैं। यह केवल भ्रममात्र है कि वैयक्तिक लाभ की प्रेरणा मिटा देने से मनुष्य सर्वथा परिश्रमहीन हो जाएगा और वह उतना उत्पादन नहीं करेगा, जितना वह पहले करता था। समाजवादी देशों में मनुष्य की मनुष्यता को जाग्रत किया गया है और उससे वे समाजहित के कठिन एवं दुःसाध्य कार्य कराए गए हैं, जो पूँजीवादी राष्ट्रों में भी सम्भव नहीं हो सके। सोवियत रूस में १६१८ की राज्यक्रान्ति के बाद प्रत्येक उत्पादन क्षेत्र में ऐसी चमत्कार-पूर्ण वृद्धि हुई है, जिसे देख कर मनुष्य को केवल स्वार्थ का पुतला कहना मनुष्यता का अपमान करना है।

संशय किया जाता है कि वर्गहीन समाज को स्थापित करना सम्भव भी है? क्यों नहीं। तीस वर्ष पूर्व से ऐसे समाज की स्थापना रूस में हो चुकी है। दो-तीन वर्ष पूर्व चीन जैसे विशाल, विराट्-काय राष्ट्र में भी इसकी स्थापना हो गई है। अन्य देशों में वर्गहीन समाज की स्थापना क्यों नहीं हो सकती? इस स्थापना का एकमात्र साधन क्रान्ति (Revo-

lution ) है। जिस देश में शोषित लोग परम्परा से चले आते हुए, अन्याय-प्रतिष्ठित सामाजिक संघटन को उखाड़ फेंकने में सफल हो जाते हैं, वहाँ नवीन न्यायावलम्बित समाज की रचना की जा सकती है।

भारत में तो वर्गहीन समाज का विशेष महत्त्व है। शताब्दियों की दासता के बाद यहाँ का सामाजिक ढाँचा सर्वथा जराजीर्ण हो चुका है।

**भारत में इसका महत्त्व**

इस पुरानी इमारत को भूमिसात् ही करना होगा और इसके स्थान पर नवीन भवन को जो कला, सौन्दर्य, स्थिरता और न्याय का प्रतीक हो—स्थापित करना होगा। यहाँ दरिद्रता की चरम सीमा, अशिक्षा की पराकाष्ठा तथा रोगों की परमावधि पाई जाती है। भारत का कायाकल्प तो क्रान्ति से हो सकेगा। तभी नवयुग का प्रवेश होगा, तभी सर्वसम्पन्नता, सर्व-कल्याण तथा सर्वाभ्युदय की सुनहली उषा का भारत में पुण्यावतरण होगा।

भारत में वर्गहीन समाज का अर्थ वर्णहीन समाज भी होगा। हमारे देश में चिरन्तन काल से चली आती हुई जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था एक महान् अभिशाप है, जिसने मनुष्य और मनुष्य में फौलाद की दीवारों को खड़ा कर दिया है, ऊँच-नीच के भेद-भाव उत्पन्न कर दिये हैं और समाज के एक बड़े अंग को अछूत कह कर, उसे मनुष्यता के साधारण अधिकारों से भी वञ्चित कर दिया है। वर्गहीन समाज में इस वर्ण-व्यवस्था का अन्त कर दिया जाएगा।

भारत में ऐसे समाज की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके बिना उन्नति-पथ पर अग्रसर होना असम्भव है। जातिभेद मिटने पर, अस्पृश्यता नष्ट होने पर, स्त्री-पुरुष की समानता स्थापित होने पर ही, हम सर्वाङ्गीण अभ्युदय के सम्पादन में सफल हो सकते हैं। जहाँ जातीय ईर्ष्याएँ, वर्ण-सम्बन्धी अशक्तताएँ, लिङ्गभेद की विषमताएँ कायम हों—वहाँ राष्ट्रोत्थान कैसे हो सकता है? वर्गहीन समाज की स्थापना के साथ इन सब बाधाओं पर विजय प्राप्त किया जा सकेगा।

वर्गहीन समाज की स्थापना कैसे हो, इसका उत्तर दिया जा चुका

है। भारत में भी क्रान्ति द्वारा ही इसकी स्थापना हो सकेगी। विधान-सभाओं के प्रस्तावों से ऐसा नहीं किया जा सकता।

उपसंहार

योरोप के जर्मनी, इटली, रूस एवं फ्रांस आदि देशों में तो हिंसात्मक साधनों द्वारा राज्य-क्रान्तियाँ की गईं—परन्तु भारत में अहिंसात्मक साधनों का भी परीक्षण किया जा सकता है, क्योंकि इस देश की परम्पराओं में अहिंसा का ऊँचा स्थान है। भगवान् बुद्ध ने इस सिद्धान्त का इस देश में सफलतापूर्वक प्रयोग किया। महात्मा गान्धी ने भी स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए इसका परीक्षण किया, जो उद्देश्य-सिद्धि में फलवान् हुआ। शायद वर्तमान विषमताश्रित समाज को भी अहिंसा मार्ग पर चलते हुए, अहिंसात्मक क्रान्ति द्वारा परिवर्तित किया जा सके। इस मार्ग का अनुसरण किए बिना, दूसरे मार्ग पर चलना बुद्धिमत्ता-पूर्ण न होगा।

---

# २८. खाद्य-समस्या

## भूमिका, खाद्य-समस्या का महत्त्व, खाद्य-समस्या के कारण, खाद्य-समस्या का हल, उपसंहार

भूमिका

भारत के स्वतन्त्र होने के साथ ही खाद्य-समस्या ने भयंकर रूप धारण कर लिया है ? इस समय हम लगभग ३ करोड़ टन अनाज बाहर से मँगा रहे हैं, जिस पर १५० करोड़ रुपया व्यय किया जा रहा है। द्वितीय महायुद्ध के बाद यह आशा की जा रही थी कि अनाज बहुतायत में और सस्ती कीमतों पर मिल सकेगा। स्वतन्त्रता के आने पर यह आशा अधिक तीव्र हो गई। परन्तु इसके विपरीत प्रतिदिन अन्न-समस्या अधिक विकट ही होती गई। हमारे अनेक राज्यों में दुर्भिक्ष तक की अवस्थाएँ उत्पन्न हो चुकी हैं। हम अनाज के लिए पराश्रित हो गए हैं और अमरीका, आस्ट्रेलिया, रूस, चीन, केनेडा, आर्जेंटाईन, बर्मा,

आदि देशों के भिखारी बन रहे हैं। यह स्थिति आत्म-सम्मान की घातक और स्वरक्षा के लिए अत्यन्त अहितकर है।

आज के संसार में खाद्य पदार्थों का उतना ही महत्त्व है, जितना युद्धों में शस्त्रास्त्रों का, पेट्रोल वा तेल का। सेनाएँ विजय-मार्ग पर न केवल टैंकों की सहायता से अग्रसर होती हैं, अपितु भोजन-सामग्री से समन्वित हो कर ही आगे बढ़ सकती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों में अब खाद्य पदार्थों के उत्पत्ति-स्थानों को उसी तरह विध्वंस का लक्ष्य बनाया जाता है, जैसे हवाई अड्डों अथवा अन्य सैनिक स्थानों को। जिस देश को खाद्य पदार्थों के लिए पराश्रित रहना होता है, उसकी दुर्बलता संसार-विदित हो जाती है और वह आसानी से आक्रमण का शिकार बनाया जा सकता है। इसके सिवाय युद्धकाल में बाहर से अनाज आना बड़ा कठिन बल्कि असम्भव-सा हो जाता है। भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता तब तक स्वतन्त्रता कहलाने योग्य नहीं, जब तक भोजन के लिए वह दूसरे देशों पर आश्रित है। हमें बहुत ही शीघ्र आत्म-निर्भरता को प्राप्त करना होगा, अन्यथा प्राप्त हुई स्वतन्त्रता को खो बैठने का भय है।

**खाद्य-समस्या का महत्त्व**

**खाद्य-समस्या के कारण**

भारत में खाद्य-पदार्थों की कमी के निम्नलिखित मुख्य कारण बने हैं :—

(क) ब्रिटिश राज्य में भूमि की उपजाऊ शक्ति को कायम रखने की ओर ध्यान न देना और वैज्ञानिक साधनों द्वारा कृषि की उन्नति न करना।

(ख) द्वितीय महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप उत्पादन का अव्यवस्थित हो जाना। लाखों किसानों का अपना काम छोड़ सेना में भर्ती हो जाना।

(ग) भारत से पाकिस्तान का पृथक् हो जाना, जिसकी उपजाऊ भूमि अनाज को बहुतायत से उत्पन्न करती थी।

(घ) जन-संख्या का तीव्रगति से बढ़ना । प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० राधाकमल मुखर्जी के कथनानुसार भारत की जन-संख्या खाद्य-पदार्थों की उत्पत्ति से कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ रही है ।

(ङ) मुद्रास्फीति से अनाज की कीमतों का महँगा हो जाना ।

(च) खाद्य पदार्थों के मूल्य-नियन्त्रण से उनका बाज़ार से लुप्त हो जाना ।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व बर्मा, हिन्दचीन तथा स्याम से कुछ खाद्य पदार्थ मँगाए जाते थे । इससे चावल की कमी पूरी हो जाती थी । परन्तु युद्ध में इन देशों की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ गई और वे भारत को अन्न देने में असमर्थ हो गए ।

भारत में बढ़ती हुई खाद्य-पदार्थों की कमी को दूर करने का एकमात्र उपाय यही है कि अपने देश की कृषि को उन्नत किया जाए और खाद्य पदार्थों को अधिक मात्रा में उत्पन्न किया जाए । इसके लिए "अधिकाधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन" (Grow More Food Campaign) को दृढ़ता से चलाने की आवश्यकता है । इस आन्दोलन को केवल कागजी कार्यवाही तक सीमित न रख कर उसे वस्तुतः सफल बनाने की गम्भीर चेष्टा करनी चाहिए । एतदर्थ निम्न साधनों का प्रयोग अविलम्ब कर देना चाहिए :—

**खाद्य-समस्या का हल**

(क) अधिकाधिक भूमि को कृषियोग्य बना कर उसमें कृषि की व्यवस्था करनी चाहिए ।

(ख) सिञ्चन के प्रबन्ध के लिए, नहरों, कुओं, जलागारों की अल्प-कालीन तथा दीर्घकालीन योजनाएँ बनानी चाहिएँ और उन्हें शीघ्र कार्यान्वित करना चाहिए ।

(ग) अच्छे खाद की व्यवस्था करनी चाहिए ।

(घ) अच्छे से अच्छे बीजों को बाहर से मँगा कर भूमि में बोना चाहिए ।

(ङ) कृषि के लिए उपयोगी नवीनतम मशीनों का प्रयोग प्रचलित करना चाहिए। गवर्नमेंट की तरफ से ट्रैक्टर स्थान-स्थान पर रखे जाने चाहिए, जिन्हें किसान थोड़ा-सा खर्च दे कर कृषि-कार्य में लगाएँ।

(च) किसानों की जमीनों को टुकड़े-टुकड़े हो जाने से बचाना चाहिए, और उन्हें एकत्र संघटित ( Consolidation of holdings ) किए जाने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(छ) फसल-विनाशक कीड़ों टिड्डियों आदि की रोकथाम के लिए पूर्ण व्यवस्था करनी चाहिए।

(ज) बाढ़ों द्वारा कृषि-विनाश न हो, एतदर्थ नदियों पर बड़े-बड़े बाँध बनाने का आयोजन किया जाना चाहिए।

(झ) अनाज के संग्रह का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिए।

खाद्य-समस्या को सुलझाने का एक और उपाय यह भी है कि अनाज के अतिरिक्त अन्य खाद्य पदार्थों का भी व्यवहार किया जाए। आलू, शकरकन्दी, सोयाबीन आदि कई ऐसी वस्तुएँ है, जिनमें भोजन के सब तत्त्व पाए जाते हैं। उनके प्रयोग से अनाज की खपत को घटाया जा सकता है और कमी को पूरा किया जा सकता है।

डा० कुमारप्पा ने खाद्य-समस्या पर विचार रखते हुए कहा था—"हमें खाद्य पदार्थों की कमी को कई पार्श्वों से हल करना होगा। हमें उत्पत्ति को बढ़ाना होगा, उत्पन्न खाद्य पदार्थों की सुरक्षा का प्रबन्ध करना होगा, और फिर उसकी खपत और विभाजन का भी न्यायोचित आयोजन करना होगा। इसके अतिरिक्त हमें वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा नए-नए खाद्य पदार्थों का पता लगाना होगा, जिनका प्रयोग अनाज के स्थान पर किया जा सके। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के भोजन-उपयोगी तत्त्वों को वैज्ञानिक प्रयोग-शालाओं में परीक्षणों द्वारा ज्ञात करके, उन्हें व्यवहार में लाना होगा।"

भारत के प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल ने अनेक बार खाद्य-समस्या

सुलझाने के सम्बन्ध में अपनी चिन्ता प्रकट की है। हमारी आत्मनिर्भरता का लक्ष्य अभी पूरा होता हुआ दिखाई नहीं देता। तृतीय महायुद्ध के किसी समय प्रारम्भ होने की सम्भावना है। उस समय हमारे देश की अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो जाएगी। खाद्य-समस्या को युद्ध के समान अति महत्त्वपूर्ण मान कर हमें अपने समस्त जातीय बल को उसके हल करने में लगा देना चाहिए। यदि अन्न के अभाव में जाति का जीवित रहना ही संशयास्पद हो जाए तो अन्य उन्नति की क्या आशा की जा सकती है?

**उपसंहार**

भारत के खाद्य-कमिश्नर श्री पाटिल के कथनानुसार खाद्य की कमी केवल १५% प्रतिशत है। यदि प्रत्येक किसान आगे से केवल १५% प्रतिशत अनाज अधिक पैदा कर ले तो खाद्य-समस्या का हल हो सकता है। अपनी जातीय शक्ति को बढ़ा कर केवल इतनी मात्रा को पूरा करना, हमारे लिए कठिन न होना चाहिए। पाकिस्तान ने विभाजन के बाद खाद्य-समस्या को हल कर लिया है, क्योंकि वहाँ अनाज की उत्पत्ति पर्याप्त मात्रा में होती है। इसमें उनकी सबलता है। भारत की खाद्य-समस्या उसकी महान् निर्बलता है। शक्तिशाली राष्ट्रों की लालची नजरें अभी से भारत पर पड़ रही हैं और वे हमारी खाद्य सम्बन्धी कठिनाइयों का पूरा लाभ उठाना चाहते हैं। इसलिए हमें शीघ्र ही अपनी खाद्य-समस्या को हल कर लेना चाहिए और इस तरह अपने संघटन तथा राष्ट्रीय शक्ति का परिचय देना चाहिए।

## २६. मुद्रास्फीति तथा उसके उपाय

### भूमिका, मुद्रास्फीति के कारण, मुद्रास्फीति की हानियाँ मुद्रास्फीति निवारण के उपाय, उपसंहार

स्वतन्त्र भारत ने अंग्रेज़ी राज्य से उत्तराधिकार में भग्न-कलेवर आर्थिक संघटन प्राप्त किया। द्वितीय महायुद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए अंग्रेज़ों ने भारत के धन को पानी की तरह बहाया।

**भूमिका**

अनन्त सैनिक बल स्थापित करके उस पर व्यय करने के लिए अन्य साधन न देख कर, नासिक प्रेस की मशीनों को दिन रात चला कर अरबों रुपए के नोट तैयार किए गए और उन्हें ही सैनिक कर्मचारियों के बड़े-बड़े वेतन देने में तथा सेना-सामग्री खरीदने में लगाया गया। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व, भारत में कुल १६८ करोड़ की पत्र-मुद्राएँ (नोट) प्रचलित थीं। युद्ध-समय में १७४० करोड़ के नोट प्रचलित किए गए। इतनी बड़ी धनराशि के आने के साथ और उसी अनुपात से वस्तुओं की उत्पत्ति न होने के कारण, देश में पदार्थों की कीमतें तेज़ी से बढ़ने लगीं, और देखते-देखते प्रत्येक वस्तु ४००% प्रतिशत अधिक दामों पर बिकने लगी। परिणाम-स्वरूप जीवन-निर्वाह कठिन हो गया और धन की विक्रय-शक्ति (purchasing power) बहुत कम हो गई।

जब पत्रमुद्रा को ऐसे अनुचित रूप में बढ़ा दिया जाए, जब पत्र-मुद्रा उचित मात्रा में पदार्थों को न खरीद सके—तब मुद्रास्फीति या मुद्रा का फैलाव (Inflation) की स्थिति उत्पन्न होती है। अंग्रेज़ी राज्य ने मुद्रास्फीति द्वारा द्वितीय युद्ध की सब कठिनाइयों को दूर कर लिया, और युद्ध में विजय भी प्राप्त कर ली परन्तु उसका जो भी भीषण दुष्परिणाम पीछे रह गया उसका सामना स्वतन्त्र भारत को ही करना पड़ा। अब भी मुद्रास्फीति से बढ़ी हुई कीमतें और उसके परिणाम स्वरूप जीवन-निर्वाह की असुविधाएँ दूर नहीं हो रहीं। प्रायः अशिक्षित लोग वर्तमान आर्थिक

अव्यवस्था का सारा दोष अपने शासन पर देते हैं—वे नहीं जानते कि भारत सरकार को किस आर्थिक संघटन का स्वतन्त्रता के बाद उत्तराधिकारी बनना पड़ा और कैसा भीषण रोग, मुद्रास्फीति के रूप में, उसे दायभाग में प्राप्त हुआ।

**मुद्रास्फीति के कारण**

मुद्रास्फीति का मुख्यतम कारण तो सैनिक व्यय का अमर्यादित रूप से बढ़ जाना था। भारत के नवयुवकों को सेना में आकृष्ट करने के लिए, उन्हें आकर्षक वेतन देना तथा उनके जीवन-स्तर को ऊँचा रखने पर निरर्गल व्यय करना आवश्यक था। अनन्त युद्ध सामग्री खरीदने और उसे युद्ध क्षेत्र में पहुँचाने आदि पर भी बेहद खर्च करना जरूरी था। प्रजा से कर्ज अथवा टेक्स ले कर भी यह सब व्यय पूरा नहीं किया जा सकता था। अतः मुद्रास्फीति का आश्रय लेना अनिवार्य था।

मुद्रास्फीति अपने में एक प्रकार का छिपा हुआ टेक्स है, जिसके द्वारा व्यक्ति के खरीदने की शक्ति को कम कर दिया जाता है। अंग्रेजी सरकार ने अपनी मुद्रास्फीति की नीति द्वारा कीमतों को ४००% प्रतिशत बढ़ा कर प्रति वस्तु की कीमत का ७५% अथवा तीन-चौथाई कर रूप में लेना शुरू किया।

स्वतन्त्र भारत को विभाजन के परिणाम-स्वरूप सैनिक व्यय कम करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। इसके विपरीत पाकिस्तान को संयम में रखने के लिए, अधिक सेनाओं का आयोजन करना पड़ा। विभाजन के परिणाम स्वरूप ही भारत को शरणार्थी-समस्या का सामना करना पड़ा—जिस पर लगभग २०० करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त दामोदरघाटी योजना, महानदी योजना, भाकराबन्ध तथा नांगल योजना आदि अन्य पुनर्निर्माण-योजनाओं पर अरबों रुपया खर्च किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में मुद्रा के फैलाव को कम करना कठिन ही नहीं, उसे अधिक फैलाना भी अनिवार्य हो गया है।

मुद्रास्फीति के बदले में अंग्रेज सरकार कुछ सोना रिजर्व में रखती

थी वह भारत में न रख कर बैंक आफ इंग्लैंड में रखा जाता था। परिणामस्वरूप लगभग १३५ करोड़ पौंड वहाँ स्टर्लिङ्ग बेलेन्स ( Sterling balance ) नाम से एकत्र हो गया। भारत के स्वतन्त्र होने के बाद भी वह उसे न दिया गया। उसे थोड़ी थोड़ी किस्तों में ही वापिस किया जा सकेगा।

**मुद्रास्फीति की हानियाँ**

मुद्रास्फीति के कारण कीमतों के बढ़ जाने और जीवन-निर्वाह के अत्यन्त कठिन बन जाने की तरफ पहले ही निर्देश किया जा चुका है। इसके परिणामस्वरूप जनता में असन्तोष बढ़ता जा रहा है। असम्भव नहीं कि यह असन्तोष बढ़ते बढ़ते भीषण क्रान्ति का रूप धारण कर ले।

मुद्रास्फीति की एक और भयंकर हानि जनता के चरित्र-पतन के रूप में हो रही है। सरकारी कर्मचारियों में रिश्वत लेने की बुराई बढ़ रही है। दिए गए मँहगाई-भत्ते आदि पर्याप्त न होने के कारण, जीवन-निर्वाह करने के लिए उन्हें पाप का आचरण करना पड़ता है। व्यापारी लोग चोरबाजारी से धनसंग्रह कर रहे हैं—उद्योगपति अधिकाधिक लाभ सञ्चय का लोभ कर रहे हैं। साधारण जनता के दुःख प्रतिदिन बढ़ते चले जा रहे हैं।

मुद्रास्फीति का निवारण करना अत्यन्त वांछनीय है। इसे निवारण किये बिना हम देश की निर्धनता, दुर्भिक्ष और आर्थिक पराधीनता को दूर नहीं कर सकते। अंग्रेजी सरकार की इस बुरी विरासत से हमें छुटकारा पाना ही होगा—अन्यथा जातीय पुनर्निर्माण की सब योजनाएँ स्वप्नमात्र रह जाएँगी।

**मुद्रास्फीति निवारण के उपाय**

मुद्रास्फीति-निवारण के निम्नलिखित उपाय भिन्न-भिन्न विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तावित किए गए हैं :—

(क) सर्वोत्तम उपाय निश्चित मर्यादा से अधिक संग्रहीत धनराशि को जब्त कर लेने का है। रूस में द्वितीय महायुद्ध के बाद ऐसा ही किया गया और स्टालिन के एक अध्यादेश द्वारा ऐसी धनराशि को गैर कानूनी ( Illegal tender ) घोषित कर दिया गया। भारत में भी युद्ध के बाद

# ३०. राष्ट्रकवि तुलसीदास

### भूमिका, जीवन-वृत्त, रचनाएँ, भाषा-भाव-शैली, उपसंहार

जो स्थान इंग्लैंड में शेक्सपीयर को, इटली में दाँते को, फ्रांस में मोलियर को, जर्मनी में गेटे को तथा रूस में पुश्किन को प्राप्त है, वही स्थान भारत में तुलसीदासजी को प्राप्त है। स्वतन्त्र भारत में हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित होने के बाद तुलसीदासजी निर्विवाद रूप से हमारे देश के राष्ट्रकवि हैं।

भूमिका

इसमें सन्देह नहीं कि सन्त तुलसीदासजी ने अपनी कविता का प्रणयन कवि रूप से नहीं किया। उनकी कविता रामभक्ति का उद्रेक मात्र था। उन्होंने इसे 'यशसे' अथवा 'अर्थकृते' नहीं लिखा। वह तो केवल 'स्वान्तः सुखाय' ही लिखी गई थी। उन्होंने स्वयं कहा 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति अर्थात् 'हृदय के आन्तरिक सुख की तृप्ति के लिए मैंने रघुनाथ की कथा को लिखा है।' अन्यत्र उन्होंने कवि होने से ही इनकार किया है और कहा, "कवि न होउँ नहिं वचनप्रवीना, सकल कला सब विद्या हीना।'''कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।"

क्योंकि तुलसीदासजी का वर्ण्य विषय श्रीराम थे, जिनमें उनकी अनन्यता थी, अतः हृदय से भक्ति-प्रवाह फूटने पर सरस्वती का साथ देना सर्वथा स्वाभाविक ही था। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि जिस प्रकार पवन के साथ धूल भी ऊपर चढ़ जाती है, उसी प्रकार रामचन्द्रजी के पावन चरित्र-वर्णन के साथ उनकी वाणी भी सर्वगुण-विभूषिता हो जाएगी। उनके कवित्व की भक्ति-प्रधानता उनके इन्हीं दो वाक्यों से प्रमाणित हो जाती है—"बसहिं राम सिय मानस मोरे" तथा "जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिए ताहि कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही।"

अपने इष्टदेव की उपासना में भक्त तुलसीदास जी ने अपने अन्तर्तम के भावों का वाणी द्वारा अभिव्यञ्जन किया। वही सरस्वती के प्रसाद

से अनायास ही कविता बन गई—और ऐसी अनुपम कविता बनी, जिसको हिन्दी-साहित्य में ही नहीं, विश्व के साहित्य में अमरत्व प्राप्त हुआ। वस्तुतः ही, यह उक्ति सर्वथा सत्य है, "कलि कुटिल जीव-निस्तार हित, बालमीक तुलसी भयो।" वाल्मीकि यदि संस्कृत-साहित्य के आदि कवि हैं, तो उन्हीं के अवतार तुलसीदास हिन्दी-साहित्य के सर्वोत्कृष्ट सर्वप्रथम कवि हैं। इसी नाते वे हमारे स्वाधीन भारत के राष्ट्रकवि हैं। प्रत्येक भारतीय को अपने इस राष्ट्रकवि के जीवन तथा काव्य से परिचय प्राप्त करना चाहिए और उसका गौरव अनुभव करना चाहिए।

गोस्वामी तुलसीदासजी का जन्म राजापुर ग्राम जिला बाँदा में संवत् १५८९ में हुआ। इनके पिता का नाम आत्माराम तथा माता का नाम हुलसी था। इनका पहला नाम रामबोला था, वैरागी होने पर तुलसीदास रखा गया। कहा जाता है कि इनकी माता ने इनके जन्म के दो-चार दिन बाद ही शरीर त्याग दिया था, अतः नवजात शिशु को बाल्यकाल में माता का स्नेह प्राप्त नहीं हुआ। इनका पहला विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था, जिससे एक बालक भी हुआ। परन्तु थोड़े दिनों में माता और बालक दोनों की मृत्यु हो गई। तब उनका विवाह कञ्चनपुर-निवासी लछमन उपाध्याय की कन्या बुद्धिमती से हुआ।

**जीवन वृत्त**

कहा जाता है कि इनका अपनी दूसरी पत्नी पर बहुत अधिक प्रेम था। एक बार उसके मायके जाने पर ये भी उसके पीछे वहीं जा पहुँचे। इस पर इनकी स्त्री को लज्जा आई और उसने कहाः—

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहहुँ मैं नाथ॥
अस्थि-चर्म-मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम में, होत न तो भव भीति॥

यह सुनते ही तुलसीदासजी का स्त्री के प्रति वासनामय प्रेम श्रीरामचन्द्रजी के प्रति दृढ़भक्ति में परिणत हो गया। अस्थि-चर्म के प्रेम का स्थान

ईशप्रेम ने ले लिया। तत्क्षण गृह त्याग कर काशी में गुरु नरहरिदासजी के पास पहुँचे और उनसे दीक्षा ग्रहण करके वैरागी बन गए।

गृहत्याग के पश्चात् वे चित्रकूट, काशी, अयोध्या आदि स्थानों पर रहे। संवत् १६३१ में इन्होंने अपनी अमरकृति रामचरित-मानस का आरम्भ किया। संवत् १६८० में असीगंग के तीर पर श्रावण शुक्ल सप्तमी को इन्होंने अपने नश्वर शरीर को त्यागा और उस यशःशरीर को धारण किया, जिसको जरा और मरण का भय नहीं।

तुलसीदासजी ने अपने समय में प्रचलित हिन्दी के व्रज और अवधी दोनों रूपों में कविता की। इन्होंने सब मिला कर तेईस या चौबीस ग्रन्थ

**रचनाएँ**

लिखे। किन्तु उनमें रामचरित-मानस, विनय-पत्रिका, दोहावली, गीतावली और कवित्त रामायण मुख्य हैं। छोटे ग्रन्थों में रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकी-मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी और कृष्ण-गीतावली प्रसिद्ध हैं। एक कृष्ण-गीतावली को छोड़ कर अन्य सब ग्रन्थों के विषय राम ही हैं।

रामचरितमानस का उपर्युक्त रचनाओं में सर्वोत्कृष्ट स्थान है। वस्तुतः इसी से तुलसीदास अमर हुए हैं। यह कवि की हिन्दी साहित्य को अनूठी देन है। इस महाकाव्य में तुलसी ने काव्य और धर्म का अनुपम समन्वय किया है। सच तो यह है कि काव्य से बढ़ कर यह एक धर्म पुस्तक है। संस्कृत साहित्य में जो स्थान वेद और गीता को प्राप्त है, वही स्थान हिन्दी साहित्य में रामचरितमानस को प्राप्त है। करोड़ों हिन्दू इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं और जीवन की शिक्षाएँ ग्रहण करते हैं। 'रामादिवत् प्रवर्त्तितव्यं, न रावणादिवत्'—यह रामायण का निष्कर्ष मानस द्वारा ही उनके हृदयों पर अङ्कित होता है। रामचरित-मानस का अनुवाद भारत की प्रायः सभी भाषाओं में और योरोप की मुख्य-मुख्य भाषाओं में हो चुका है। कुछ ही वर्ष हुए सोवियत रूस के एक विद्वान् ने इसका सर्वाङ्गीण सुन्दर अनुवाद रूसी भाषा में प्रकाशित किया है।

काव्य की दृष्टि से भी रामचरित-मानस एक अनुपम रचना है। है। इसमें काव्य के सभी गुण विद्यमान हैं। इसमें सभी रस पाए जाते हैं और अर्थालंकारों के साथ अनुप्रास की छटा विशेष रूप से स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होती है।

**भाषा, भाव, शैली**

इस काव्य में भाषा और भावों का अद्भुत सामञ्जस्य है। गोस्वामी जी जब वर्षा का वर्णन करते हैं तो ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं कि मानो प्रत्यक्ष वर्षा हो रही हो। 'घन घमण्ड नभ गरजत घोरा' के सुनते ही बादल घिरे से दिखाई देने लगते हैं और उनकी कड़क का भान होने लगता है। वसन्त वर्णन में कैसे सुन्दर संगीतमय शब्दों का प्रयोग किया गया है—'चातक कोकिल कीर चकोरा, कूजत विहंग नचत मनमोरा'। स्वयं शब्द ही कूजने और नाचने लगते हैं।

रामचरित-मानस उदात्त भावों का मानसरोवर है। एक से एक अनुपम एव स्फूर्तिप्रद भाव इसमें पाए जाते हैं, जो प्रत्येक स्थिति में सत्य हैं। 'होइहै सोइ जो राम रचि राखा' में यदि भाग्यवाद है तो 'कादर मन कहँ एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा' में पुरुषार्थ का समर्थन किया गया है। ज्ञानियों के लिए तुलसीदास जी ने मायावाद का प्रतिपादन किया है और संसारी पुरुषों के लिए 'मनमोदक नहिं भूख बुझाई' द्वारा व्यावहारिकता का उपदेश दिया है। 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' और 'सब ते अधिक जाति-अपमाना' में स्वाधीनता तथा जाति-प्रेम का अत्यन्त मार्मिक परिचय दिया है। 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई' में शास्त्रों का 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'—निष्कर्ष निहित कर दिया है। गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस में मर्यादावाद का बड़ा ऊँचा आदर्श स्थापित किया है। अपने पुत्र लक्ष्मण को राम के साथ वन जाने की अनुमति देते हुए सुमित्रा कहती हैं—"तुमरेहि भाग राम बन जाहीं, दूसर हेतु तात कछु नाहीं।" अर्थात् 'हे लक्ष्मण! रामचन्द्र जी को वनवास, तुम्हें उनकी सेवा करने का अवसर देने के लिए दिया गया है।' राजा की मर्यादा स्थापित करते हुए, तुलसी-

दास जी कहते हैं—'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी सो नृप अवसि नरक अधिकारी'।

उपसंहार

वस्तुतः रामचरित-मानस हिन्दू आदर्शों, हिन्दू मर्यादाओं, हिन्दू भावों तथा हिन्दू सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने वाला, अपने समय का धर्म-शास्त्र है। वेदों तक न पहुँच सकने वालों के लिए यही श्रुति है। मध्यकालीन मुस्लिम सत्ता के युग में इसी ने हिन्दू संस्कृति को नष्ट होने से सुरक्षित किया और हिन्दू धर्म को जीवित रखा। श्री रामचन्द्र का मर्यादा-पालन, धैर्य और अनुपम त्याग, दशरथ की आत्म-बलिदान करने वाली सत्य-परायणता, भरत का संन्यास, लक्ष्मण की भ्रातृभक्ति, हनुमान का सेवाधर्म एवं सीता का सतीत्व—इन सब उदात्त गुणों का मानस की कथा में एकत्र समन्वय करके तुलसी ने हिन्दू जाति के लिए जीवन का एक मार्ग प्रदर्शित किया, जिस पर चलते हुए वह कभी अधःपतन अथवा अपकर्ष का शिकार नहीं बन सकती। गोस्वामी तुलसीदास भक्त थे, कवि थे तथा हिन्दू समाज के संरक्षक एवं सुधारक थे। वे भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रतीक थे। यदि रामचरित-मानस न लिखा गया होता, तो सम्भव है हिन्दू धर्म का साधारण जनता से लोप हो चुका होता। हिन्दी और हिन्दू, सन्त तुलसीदास जी के सदा ऋणी रहेंगे।

---

# ३१. वर्तमान हिन्दी कविता की प्रगति

## भूमिका, आधुनिक हिन्दी काव्य का विकास, वर्तमान हिन्दी कविता की प्रगति, उपसंहार

भूमिका

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से हिन्दी कविता का आधुनिक युग आरम्भ होता है। उनसे पूर्व रीतिकालीन कविता की प्रधानता थी। इस कविता में रस अथवा अलङ्कार को पद्यों में बाँध कर कुशलता प्रदर्शित करने में ही गौरव माना जाता था। यह

मुगल बादशाहों के शासन का ह्रास-काल (१७००–१८५७) था। उनके भोग-विलास की कहानियाँ चारों तरफ प्रचलित थीं। कविता भी उस समय के वातावरण में विलास के भार से इतनी दब गई थी कि इसमें विविधता और अनेकरूपता के दर्शन दुर्लभ हो गए थे। इस कविता का प्रधान विषय प्रेम था, जो कुत्सित वासना का पर्याय मात्र बन गया था। रूढ़ि ने कवियों की प्रतिभा को कुण्ठित कर दिया था। प्रकृति को तो कविता से बाहर निकाल कर फेंक दिया गया था।

मुगल शासन की समाप्ति के बाद अंग्रेज़ी शासन तथा शिक्षा के प्रसार से भारतीय समाज का रूप-रंग बदल गया। सन् सत्तावन की क्रान्ति ने देश में एक नई चेतना पैदा कर दी। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द आदि समाज-सुधारकों ने भी राष्ट्र-शरीर में नवीन स्फूर्ति को उत्पन्न कर दिया। अतीत-गौरव, देशभक्ति, मातृभाषा-प्रेम, स्वतन्त्रतानुराग, गोरक्षा आदि अनेक भावनाओं का साधारण जनता में उद्बोध होना आरम्भ हुआ। कविता ने भी पलटा खाया। नवीन कविता नवीन पथ पर स्वच्छन्द गति से बहने लगी।

**आधुनिक हिन्दी-काव्य का विकास**

आधुनिक हिन्दी काव्य के विकास का प्रथम युग भारतेन्दु काल (१८६५–१९००) था। रीतिकाल में कविता का नाता जनता से टूट चुका था। भारतेन्दु के प्रभाव से कविता जनता की वाणी बनी। उनकी कविता में देश और समाज की समस्याओं को पहली बार व्यक्त किया गया। भारतेन्दु और उनके साथी अपनी रचनाओं में भारत के अतीत गौरव का चित्र खींच कर जनता को जाग्रत करने लगे। 'भारत दुर्दशा' में हरिश्चन्द्र ने भारत की वर्तमान सामाजिक एवं आर्थिक दुर्दशा का इन चुभते हुए शब्दों में चित्रण किया :—

सीखत कोऊ न कला, उदर भरि जीवत केवल।
पशु समान सब अन्न खात, पीयत गंगा जल॥

धन बिदेस चलि जात, तउ जिय होत न चञ्चल।
जड़ समान ह्वै रहत, अकिल हत रचि न सकत कल ॥

इस काल के बालमुकुन्द गुप्त, बदरीनारायण चौधरी तथा प्रताप नारायण मिश्र आदि कवियों ने भी देशभक्ति के गीत गाए।

भारतेन्दु-युग में काव्य की भाषा व्रजभाषा रही, कभी-कभी खड़ी बोली का भी प्रयोग होने लगा। परन्तु इस युग के अन्तिम वर्षों में खड़ी बोली को ही काव्य-भाषा बनाने का आन्दोलन चल पड़ा और 'द्विवेदी-युग' का आरम्भ हुआ। सन् १६०० में महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका की स्थापना की। इसका उद्देश्य खड़ी बोली को काव्य-भाषा बनाना था। इस आन्दोलन में श्रीधर पाठक, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी आदि साहित्यिकों ने भाग लिया। द्विवेदी जी ने भाषा में युगान्तर पैदा कर दिया। उनके प्रयत्नों से भाषा को व्याकरण में बाँधा गया, इसकी शिथिलता को दूर किया गया, मुहावरों को माँजा गया और शब्दों की काट-छाँट की गई। इस युग के अन्य कवि—नाथूराम शंकर, गयाप्रसाद शुक्ल, गोपालशरण सिंह, रामचरित उपाध्याय तथा रामनरेश त्रिपाठी आदि ने कविता की सीमा का विपुल विस्तार किया और विधवा-विवाह, दहेज प्रथा, बालविवाह आदि सामाजिक विषयों में अब कविता की प्रगति होने लगी। मैथिलीशरण गुप्त ने भारत-भारती लिख कर हिन्दी कविता के साम्राज्य को अधिक समृद्ध किया।

द्विवेदी-युग में प्रकृति-चित्रण की तरफ भी कवियों का विशेष ध्यान गया। ठाकुर जगमोहन सिंह ने इस युग में प्रकृति का सजीव चित्र खींचा है। पहाड़ और सरिता का रमणीक चित्रण इनकी पंक्तियों से छलक पड़ता है। बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक, रामचन्द्र शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों ने भी प्रकृति का बड़ा रोचक वर्णन किया है।

आख्यानक भी कविता का विषय बने हैं। ये आख्यानक पुराण और इतिहास से लिए गए हैं। इस युग के अन्तिम वर्षों में कविता मुक्तक छन्दों में लिखी गई। मुक्तक गीत महाकवि रवीन्द्रनाथ की 'गीताञ्जलि'

के प्रभाव का फल हैं। द्विवेदी युग का विशेष महत्त्व भाषा के परिवर्तन में है। इस युग के कवियों ने भाषा को व्यवस्थित कर दिया।

तीसरा युग ''प्रसाद-युग' के नाम से कहा जा सकता है, जिसमें जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा आदि कवियों ने रहस्यवाद अथवा छायावाद की धारा को प्रवाहित किया। इन कवियों पर उपनिषदों तथा कबीर आदि सन्तों का गहरा प्रभाव है। इनकी कविता के मुख्य विषय हैं—प्रकृति का सौन्दर्य, हृदय का विषाद, आँसू, और मानव का रहस्य। निराला जी की कविता में वेदान्त की झलक दिखाई पड़ती है। महादेवी जी के गीतों में अन्तर्वेदना और निराशा पाई जाती है। श्री जगन्नाथ मिलिन्द प्रकृति-सौन्दर्य के उपासक हैं। डा० रामकुमार वर्मा की रचनाओं में अज्ञात की गवेषणा और अविरत अशान्तता देखी जाती है। उनके ये गीत कैसे भावात्मक हैं:—

क्या है अन्तिम लक्ष्य—निराशा के पथ का—अज्ञात।
दिन को क्यों लपेट देती है, श्याम वस्त्र में रात॥
.............................................

यह सरिता ही चली जा रही, है चञ्चल अविराम।
थकी हुई लहरों को देते, दोनों तट विश्राम॥
मैं भी तो चलता रहता हूँ, निशि-दिन आठों याम।
नहीं सुना मैंरे भावों ने, 'शान्ति-शान्ति' का नाम॥

महादेवी वर्मा हिन्दी कविता के वर्तमान युग की वेदना-प्रधान कवयित्री हैं। दुःखवाद, निराशा तथा गहन विषाद जैसा इनकी कविताओं में मिलता है वैसा अन्य छायावादी कविताओं में नहीं मिलता। देवीजी के मतानुसार दुःख की अनुभूति ही मनुष्य की आत्मा को बलवती बनाती है। असीम दुःख का अन्तिम परिणाम आनन्द है:—

मेरे छोटे जीवन में, देना न तृप्ति कण भर।
रहती दो प्यासी आँखें, भरती आँसू के सागर॥
.............................................

अपने इस सूनेपन की, मैं हूँ रानी मतवाली।
प्राणों का दीप जला कर, करती रहती दीवाली॥

देवीजी की सभी रचनाओं—रश्मि, नीहार, नीरजा, सौन्ध्यगीत ने हिन्दी साहित्य में बहुत आदर पाया है।

**वर्तमान हिन्दी कविता की प्रगति**

भारत की स्वतन्त्रता के साथ हिन्दी कविता के विकास में एक युगान्तर उपस्थित हुआ है। स्वतन्त्रता से पूर्व, कवियों की तड़प देश की स्वाधीनता, राष्ट्रीयता और देशोत्थान की साधना में लीन थी। अब सामाजिक क्रान्ति की तरफ यह तड़प अग्रसर हो रही है। यह क्रान्तिवाद का चौथा युग है। राष्ट्रीयतावादी कविता देश की स्वतन्त्रता चाहती थी, परन्तु प्रगतिशील अथवा क्रान्तिवादी कविता सब ससार का कल्याण चाहती है। वह सामाजिक अन्याय, विषमता, भूख एवं शोषण को नष्ट हुआ देखना चाहती है। वह किसान और मजदूर को मुक्त कराना चाहती है, मानव की अपनी सोई हुई मानवता उसे फिर से प्राप्त कराना चाहती है।

क्रान्तिवादी कवियों में बालकृष्ण नवीन, सोहनलाल द्विवेदी, रामेश्वर शुक्ल अंचल, विद्याभास्कर अरुण, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने 'विप्लव गायन', 'गाँवों में', 'वह मजदूर की अन्धी लड़की,' 'रिक्शा वाला' आदि कविताएँ लिख कर नवीन सामाजिक चेतना को उत्पन्न किया है। रहस्यवादी कवियों की प्रेरणा भी अब क्रान्तिवाद की तरफ बढ़ती जा रही है। पन्त और निराला ने भी सामाजिक क्रान्ति को अपना विषय बना लिया है। जगन्नाथ मिलिन्द ने रहस्यवाद से क्रान्तिवाद में प्रवेश किया है। उनकी वर्तमान कविताओं के विषय 'शोषितों का गान' 'क्रान्तिकारी' आदि हो गए हैं। उनके ये भाव कितने मर्मस्पर्शी हैं:—

हम जीवन के अगणित विभिन्न क्षेत्रों में,
नाना रूपों से वञ्चित हैं, पीड़ित हैं।

समता का पाया एक सूत्र, पर, हमने—
वे सब समान हैं, जो जग में शोषित हैं ॥

इसमें वर्तमान की प्रबलतम विचारधारा 'समाजवाद' की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। 'संसार के श्रमिको, एक हो जाओ' की गूँज इसमें सुनाई देती है।

उपसंहार

साहित्य परिस्थिति की उपज होता है। वह अपने काल के समाज का दर्पण होता है। वर्तमान शताब्दी में सामाजिक अन्याय के प्रति घोर विरोध की भावना तीव्रता से बढ़ती चली जा रही है। विषमता के प्रति विद्रोह उमड़ रहा है। शोषित वर्ग, शोषकों को निर्मूल करने के प्रयत्न में लगा हुआ है। साहित्यकार भी स्वयं अपने को पूँजीपतियों का शिकार बना हुआ अनुभव कर रहा है। अतः उसके अन्तस्तल से विप्लव-गायनों का निकलना स्वाभाविक ही है। प्रगतिशील राष्ट्रों में कला को मनोरञ्जन का साधन मात्र नहीं समझा जाता, उसे तो जातीय उत्थान तथा समाज-सुधार का शक्तिशाली उपकरण माना जाता है। कविता, कल्पना की ऊँची उड़ान का आनन्द लेने का सोपान मात्र नहीं। कवि को तो अपनी कवित्वशक्ति से संसार की कुरूपता को मिटा कर सौन्दर्य का सृजन करना है। नदी के निरवच्छिन्न प्रवाह को भी आज के प्रगतिशील युग में बाँध लगा कर अधिक उपयोगी बनाया जाता है। कविता को भी सामाजिक उपयोगिता की मर्यादाओं में रख कर मानव-हित का साधन बनाया जा सकता है। भारतीय स्वतन्त्रता के शैशव-काल में, जब जातीय पुनर्निर्माण का महान् कार्य अभी सम्पन्न किया जाना है—वर्तमान हिन्दी-कवियों की प्रतिभा का प्रयोग इसी दिशा में होना उचित है। हिन्दी-कविता में ऐसी प्रगति का प्रारम्भ हो चुका है—और इस प्रगति का प्रोत्साहन ही अभीष्ट है।

---

## ३२. मुंशी प्रेमचन्द

**भूमिका, जीवन-वृत्त, रचनाएँ, भाषा-भाव-शैली, उपसंहार**

**भूमिका**

जिस समय हिन्दी साहित्य में—तिलस्मी और ऐयारी, शृङ्गार रस परिपूर्ण सामाजिक तथा ऐतिहासिक और जासूसी तथा साहसपूर्ण उपन्यास लिखे जा रहे थे, और इनके अतिरिक्त बंगला-अँग्रेजी-मराठी के उपन्यासों के अनुवाद भी धड़ाधड़ निकल रहे थे; परन्तु अभी ठोस जीवन की व्याख्या करने वाला कोई उपन्यास प्रकाशित नहीं हुआ था, उस समय इसी कमी की पूर्ति के लिए श्री प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य के उपन्यास-क्षेत्र रूपी गगन-मण्डल में प्रचण्ड मार्तण्ड के रूप में अवतीर्ण हुए।

**जीवन-वृत्त**

काशी से कुछ मील की दूरी पर मढ़वा नामक ग्राम के एक कायस्थ-परिवार में, सन् १८८० में, आप का जन्म हुआ। आप के पिता डाक-खाने के एक साधारण क्लर्क थे। आप को पाँच वर्ष की आयु में ही स्कूल में भर्ती कर दिया गया। शैशव-काल से ही आपकी प्रतिभा अत्यन्त विचक्षण और सर्वतोमुखी थी। अतः आप पढ़ने-लिखने में सर्वोत्तम थे। छठी श्रेणी में ही आपको कहानी और गल्प-रचना की रुचि उत्पन्न हो गई थी। आपका प्रारम्भिक नाम धनपतराय था। आपको आरम्भ से ही उर्दू पढ़ाई गई, अतः आपने अपनी आदि कहानियों का श्रीगणेश उर्दू में ही किया। कानपुर से प्रकाशित होने वाली "जमाना" नामक पत्रिका में आपकी कहानियाँ प्रकाशित होने लगीं। आप संसार की सेवा और प्रत्येक प्राणी से प्रेम करना चाहते थे, इसीलिए आपने अपना नाम भी "प्रेमचन्द" रख लिया। आप इसी नाम से समस्त भारत में विख्यात हो गए। समय-परिवर्तन के साथ-साथ आपकी लेखनी हिन्दी की ओर झुकी। सन् १९१६ में आपकी प्रथम हिन्दी-कहानी "सरस्वती" पत्रिका में प्रकाशित हुई।

इस समय प्रायः सब लेखक अधिकतर स्वार्थवश ही कई कहानी-उपन्यासों की रचना कर रहे थे। परन्तु आप हिन्दी साहित्य की सेवा के साथ-साथ देश सेवा भी करना चाहते थे; अतः आपने अपने कहानी-उपन्यासों के दृष्टिकोण को भी देश और समाज-सेवा की ओर बदला। आपकी कोई भी कहानी या उपन्यास ऐसा न होगा जिसमें राष्ट्रीयता की झलक दृष्टिगोचर न होती हो।

**रचनाएँ**

(क) कहानी—इन्होंने लगभग तीन सौ कहानियों का निर्माण किया। जिनमें सप्तसरोज, नवनिधि, प्रेम पचीसी, प्रेमपूर्णिमा, प्रेम-द्वादशी, मानसरोवर इत्यादि संग्रह अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। आपकी कहानियाँ आरम्भ से ही लोकप्रिय हुईं। इनमें राष्ट्रीय भावनाएं, सामाजिकता और मनोवैज्ञानिकता कूट-कूट कर भरी हुई होती थी, अतः सर्वत्र 'प्रेमचन्द' नाम की धूम मच गई और इन्हें हिन्दी साहित्य का श्रेष्ठतम कहानीकार कहा जाने लगा।

(ख) उपन्यास—आपने प्रतिज्ञा, निर्मला, सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि, समरयात्रा और गोदान इत्यादि उपन्यासों का निर्माण किया।

प्रेमचन्दजी भारतीय ग्रामीण जनता के प्रतिनिधि थे। इसीलिए आपके उपन्यासों में—समाज-सुधार, ग्रामोद्धार, देहातों का नग्नचित्र, यथार्थवाद, प्रकृति-वर्णन, मनोवैज्ञानिकता, दीनों की तड़प, समवेदना, सहानुभूति, साम्यवाद, इत्यादि श्रेष्ठ भावनाओं का वर्णन यथास्थान सर्वत्र दिखाई देता है। इसीलिए आपको उच्चकोटि का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-सम्राट् कहा जाता है।

(ग) नाटक—आपने 'कर्बला' और 'बलिदान की वेदी' दो नाटक और पत्र-पत्रिकाओं में अनेकों लेख लिखे। इसी के कारण आपको हिन्दी-साहित्य का उत्कृष्ट कलाकार कहा जाता है।

इनकी भाषा ठेठ हिन्दुस्तानी, सीधी-सादी, मँजी हुई, प्रौढ़ तथा

प्रवाह-युक्त है । पात्रोपयोगिता, मुहावरों और किंवदन्तियों का प्रयोग, कथोपकथनों की सजीवता इत्यादि श्रेष्ठ गुणों का

**भाषा, भाव, शैली**

प्रयोग आपकी भाषा में सर्वत्र पाया जाता है । सूक्तियों और व्यंग्यों से भाषा में भावव्यंजकता प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होती है। राष्ट्रभाषा के आप प्रथम सफल लेखक हैं।

प्रेमचन्द जी का जीवन पारिवारिक तथा सामाजिक संघर्ष से परिपूर्ण था। अर्थ-संकट ने इनका साथ कभी नहीं छोड़ा। अतः इनकी सभी रचनाओं में जीवन की विशद व्याख्या पाई जाती है। सामाजिकता, राजनैतिकता, ग्राम-सुधार, मनोवैज्ञानिकता, यथार्थता, आदर्शवादिता, समवेदना, सहानुभूति और साम्यवाद के भाव आपकी रचनाओं में खूब झलकते हैं। इसी के फलस्वरूप आपको युग-प्रवर्तक अमर कलाकार कहा गया है।

आपकी रचनाएँ अत्यन्त लोकप्रिय हैं क्योंकि आपकी शैली ललित, मनोरम, चित्ताकर्षक और सर्वसाधारण में प्रभावोत्पादक है। इसी के परिणाम स्वरूप आपकी कृतियों ने सर्वत्र विशेष ख्याति प्राप्त की।

प्रेमचन्द जी भारत के अमर कलाकार हैं। आपकी वाणी भारत के आत्मा और हृदय की वाणी है। आप समाजवाद, यथार्थवाद और साम्यवाद के उत्कृष्ट प्रवर्तक थे। जीवन की व्याख्या

**उपसंहार**

को ही आपके साहित्य में महत्त्व मिला। इसका मुख्य कारण आपका अपना जीवन है। अपने जीवन की यथार्थ विषमता को ले कर इन्होंने आदर्श समाज की रचना का प्रयत्न किया है और तत्कालीन देश-दुर्दशा से प्रभावित हो कर अपने साहित्य को चित्रित किया है। साहित्यिक प्रौढ़ता, मनोवैज्ञानिकता और काव्य सौन्दर्य आपके उपन्यासों में कूट-कूट कर भरा हुआ है।

प्रेमचन्द जी समाज-सुधारक, सम्पत्तिशास्त्रवेत्ता और मनोविज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने भारतीय स्त्रीत्व और मनुष्यत्व का वास्तविक तथा नग्न चित्र खींचा है। आप पश्चिमी सभ्यता और उस सभ्यता की

शोषक शक्ति को खूब पहचानते हैं, इसीलिए आप उसके विरोधी भी हैं। आपकी रचनाओं में अलौकिक चमत्कार है, भावुकता है, यथार्थता है। इन्हीं कारणों से आप को उपन्यास कला का सर्वोच्च सम्राट् कहा जाता है।

जीवन के प्रारम्भ से, निर्धनता के कारण, प्रेमचन्द जी का स्वास्थ्य अच्छा न रहता था। मरण से पूर्व आप जलोदर रोग से पीड़ित थे। अतः सं० १९९३ में आप का देहावसान हो गया।

---

## ३३. जयशंकर "प्रसाद"

**भूमिका, जीवनवृत्त, रचनाएँ, भाषा-भाव-शैली, उपसंहार**

जिस समय भारतेन्दु-युग का अन्त हो चुका था और द्विवेदी-युग की समाप्ति होने वाली थी—भाषा, भाव, छन्द आदि की प्राचीन प्रणाली को छोड़ने और उसकी नवीन रूप में स्थापना करने की ओर लेखकों का विशेष ध्यान था—श्री जयशंकरप्रसाद जी ऐसे संक्रान्ति काल के कवि थे।

भूमिका

आप का जन्म काशी के "सुँघनी साहु" नामक अत्यन्त सम्पन्न वैश्यकुल में माघ शुक्ला १०, संवत् १९४६ को हुआ। आपके पिता देवीप्रसाद सुर्ती, तमाखू, सुँघनी आदि का व्यवसाय करते थे। बारह वर्ष की आयु में ही आप से पिता की छत्रच्छाया छिन गई; अतः विश्वविद्यालय से यथाविधि शिक्षा न पा आपने घर पर ही संस्कृत, फारसी, उर्दू और अंग्रेज़ी तथा हिन्दी का अच्छा अभ्यास किया। बाल्यकाल से ही आप प्रगल्भ तथा सर्वतोमुखी विचक्षण बुद्धि के स्वामी थे। माता पिता तथा भाई के देहान्त के कारण, शैशव में ही आपके हृदय में संवेदनशीलता और गम्भीरता का समावेश हो गया। प्रारम्भ से ही विद्वानों और गुणियों के सम्पर्क से आप साहित्य की ओर आकर्षित हो गए। बारह वर्ष की

जीवनवृत्त

अवस्था में अनेकों तीर्थों की यात्रा करके प्रकृति के पुजारी बन गए। संस्कृत के धुरन्धर विद्वानों से वेद-उपनिषद् का ठोस ज्ञान प्राप्त करने के कारण आप भारतीय संस्कृति के ज्ञाता तथा भक्त बन गए। शैव उपासना आपकी पैतृक सम्पत्ति थी, अतः इसपर आपकी अगाध श्रद्धा थी। कवित्व शक्ति की प्रतिभा आपको ईश्वर-प्रदत्त थी अतः बाल्यकाल में ही आपने कविता-रचना प्रारम्भ कर दी थी।

रचनाएँ

(क) कविता—आपने चित्राधार, कानन-कुसुम, करुणालय, महाराणा का महत्त्व, प्रेमपथिक, झरना, आँसू, लहर, कामायनी, इत्यादि अत्यन्त उत्कृष्ट कविता-संग्रहों का निर्माण किया। आपकी कविताएँ प्रायः व्यंजना-प्रधान होती हैं। आपकी रचनाओं में प्रकृतिवर्णन, भावनाढ्य, ऐतिहासिकता, मानव-जीवन की वेदना, स्त्री-सम्मान इत्यादि का वर्णन चमत्कार-परिपूर्ण है। 'कामायनी' आप का अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें मानव-जाति के ऐतिहासिक विकास और आध्यात्मिक भावना का समन्वय है।

(ख) नाटक—प्रसादजी ने जनमेजय का नागयज्ञ, चन्द्रगुप्त मौर्य, अजातशत्रु, राज्यश्री, स्कन्दगुप्त, विशाख, कामना, ध्रुवस्वामिनी, एक घूँट इन नौ नाटकों का निर्माण किया और वे इन्द्रनायिका नामक नाटक का कुछ अंश लिख कर छोड़ गए। आप ने भारतीयता की नवीनतम व्याख्या के लिए नाटकों का सृजन किया। आपके नाटक युग-समस्याओं के रूपक हैं। इनमें भारतीय संस्कृति से अगाध प्रेम, प्राचीनता के साथ नवीनता का समावेश, दार्शनिक कवित्व, सुख-दुःखभावना, सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, स्वाभाविक चरित्र-कल्पना, राष्ट्रीयता के प्रति आग्रह, संघर्ष के विष से जीवन के अमृत की खोज इत्यादि विशेषताएँ पाई जाती हैं। इन्हीं के परिणाम-स्वरूप आपकी नाट्यकला उच्चकोटि की है और साहित्यिक जनता ने मुक्तकण्ठ से आपको सर्वश्रेष्ठ नाटककार की उपाधि से विभूषित किया है।

(ग) उपन्यास—आपने 'तितली' और 'कङ्काल' नामक दो उपन्यास भी लिखे। इनके निर्माण का कारण सामाजिक समस्याओं का समाधान था।

(घ) कहानी—प्रसादजी ने कहानी के संसार में भी प्रवेश किया। इनमें भी वे साधारण श्रेणी से ऊपर उठे। हृदय की सूक्ष्म भावनाओं की ओर इन्होंने अधिक ध्यान दिया। लगभग सत्तर कहानियों का इन्होंने निर्माण किया, जिनके पाँच संग्रह—'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाश-दीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। जहाँ इनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष का निरूपण है, वहाँ आधुनिक अवनति का काला चित्र भी चित्रित किया गया है।

आपने निबन्ध भी लिखे हैं जिनमें कला, कविता, छायावाद आदि के सम्बन्ध में अपने भावों को व्यक्त किया और पाश्चात्य शिक्षा से उत्पन्न आन्दोलनों का भारतीय दृष्टिकोण बतलाया है। आपने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी साहित्य के भण्डार को भरा और बहुत-सी ठोस सामग्री हिन्दी माता को भेंट की।

**भाषा, भाव, शैली**

आपने पहले व्रजभाषा में रचना आरम्भ की। परन्तु समय-परिवर्तन के साथ व्रजभाषा को छोड़ कर आपने खड़ी बोली में रचनाएँ प्रारम्भ कीं। आप की भाषा शुद्ध संस्कृत-शब्दमयी, गहन, क्लिष्ट और अत्यन्त प्रौढ़ है।

आपकी रचनाओं में दार्शनिकता, छायावाद, राष्ट्रीयता, नियति-वादिता, मानव जीवन की व्याख्या, ऐतिहासिकता और आदर्श भारतीय संस्कृति के गौरव के भाव पाए जाते हैं।

आप आधुनिक हिन्दी-साहित्य के खड़ी बोली काव्य की छायावाद नामक नवीन शैली के प्रवर्तक हैं। आपने प्राचीन प्रणाली का परित्याग करके अर्वाचीन शैली का सूत्रपात किया, जिसे अतुकान्त और गीति-शैली कहा जाता है।

उपर्युक्त विवरण से प्रसादजी के व्यापक पाण्डित्य और निसर्ग-

सिद्ध कवित्व का भान हो जाता है । आमूलचूल प्रेम में पगे रहने पर भी आपने अपनी निभृत वेदना को अश्लील, नहीं होने दिया और आप सदा लौकिक सौन्दर्य के चित्रपट में अलौकिक सौन्दर्य की लीला देखते रहे । आपकी वृत्ति सदा अव्यक्त की ओर रही है, जो नामरूपों के द्वारा इस संसार में व्यक्त होता है । सारांश यह कि आपको हिन्दी साहित्य का दिव्य कवि और सर्वश्रेष्ठ नाटककार तथा दार्शनिकता का महाकवि इत्यादि उपाधियों से अलंकृत किया गया है । आप छायावाद और अतुकान्त कविता के प्रवर्तक थे । आप उपनिषदों के अद्वितीय भक्त और राष्ट्रवादी तथा नियतिवादी उत्कृष्ट कलाकार थे । जीवन के अन्तिम पाँच-सात वर्षों में प्रसादजी प्रायः रुग्ण रहे । उन्हें मन्दाग्नि तथा अजीर्ण हो गया था । फिर भी उनके अधरों से स्मित रेखा नहीं मिटी और वह सुन्दर गोल शरीर, सफाचट मुखमण्डल सदा हँसता ही रहा । अन्त में उनपर क्षयरोग का आक्रमण हुआ और उसी से संवत् १६६४ में वे इस संसार को छोड़ गए ।

उपसंहार

---

# ३४. स्वतन्त्र भारत में शिक्षा के पुनर्निर्माण का महत्त्व

### भूमिका, भारत में शिक्षा का पुनर्निर्माण, शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त, उपसंहार

स्वतन्त्र होने के बाद राष्ट्र का सर्वप्रथम ध्यान शिक्षा के पुनर्निर्माण की ओर जाना चाहिए । एक महान् विचारक का कथन है कि किसी देश की शिक्षा-प्रणाली वहाँ की शासन-प्रणाली से भी अधिक महत्त्व रखती है । शिक्षा राष्ट्र-भवन की आधार-शिला है । उसके निर्बल एवं उपेक्षित रह जाने पर बलवान् तथा अग्रगामी राष्ट्र का निर्माण नहीं किया जा

भूमिका

सकता। राष्ट्र-निर्माताओं का कर्तव्य है कि राष्ट्रोपयोगी शिक्षा-प्रणाली का शिक्षा-विशेषज्ञों द्वारा शीघ्रातिशीघ्र निर्माण कराएँ और उसको क्रियात्मक रूप देने में थोड़ा भी विलम्ब न करें।

आधुनिक प्रगतिशील राष्ट्रों में शिक्षा को राष्ट्र के सर्वतोमुखी पुनर्निर्माण का शक्तिशाली साधन माना गया है। इसी के द्वारा उन राष्ट्रों के राजनीतिक, आर्थिक, एवं नैतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन, थोड़े ही समय में, उत्पन्न किए जा सके हैं। शिक्षा के महत्त्व को न समझने वाले देश पुनर्निर्माण के कार्य में असफल रहे हैं।

**भारत में शिक्षा का पुनर्निर्माण**

स्वतन्त्र भारत में शिक्षा के पुनःसंघटन की ओर अभी उचित ध्यान नहीं दिया गया। न मालूम इसके महत्त्व को अभी तक क्यों नहीं अनुभव किया जा रहा और इसमें आवश्यक परिवर्तन करने में क्यों इतना विलम्ब किया जा रहा है?

हमारे प्राइमरी स्कूल अभी तक उसी निर्जीव पद्धति पर चल रहे हैं, जिस पर वे पहले चला करते थे। उसमें पढ़ने वाले बच्चों तथा पढ़ाने वाले शिक्षकों में कोई नवीन उत्साह दिखाई नहीं देता। उत्साहहीन बच्चे बड़े हो कर राष्ट्र के निर्माण में क्या सहायक बन सकेंगे? देश की प्रारम्भिक शिक्षा में यदि बहुत ही शीघ्र परिवर्तन न कर दिया गया और उसे राष्ट्र के भविष्य-निर्माण की दृष्टि से उपयोगी न बनाया गया तो हम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने में भी असमर्थ हो जाएँगे।

शिक्षा-प्रणाली में प्रारम्भिक शिक्षा का सबसे अधिक महत्त्व है। माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा की गौणता न होते हुए भी, उनको प्रारम्भिक शिक्षा के समान अति महत्त्व-पूर्ण नहीं माना जा सकता। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में व्यक्ति के चरित्र का निर्माण होता है। यह चरित्र उन वर्षों में जैसा भी बन जाए, फिर उसका बदलना कठिन हो जाता है। देशभक्ति, वीरता, स्वार्थहीनता आदि के उदात्त भाव इन्हीं वर्षों में हृदयों में फूँके जा सकते हैं, और उन्हें तभी सुदृढ भी बनाया जा

सकता है। आज हम शिकायत करते हैं, कि देश में चोरबाज़ारी, घूसखोरी, मुनाफाखोरी आदि बुराइयाँ बढ़ती जा रही हैं। क्या ये सब अंग्रेजी राज्य में दी गई आचारहीन शिक्षा-प्रणाली का परिणाम नहीं ? कानून अथवा शासन-दण्ड कहाँ तक इन को ठीक कर सकते हैं ? इस के विपरीत देखा तो ऐसा जा रहा है कि जितना भी कानून को कड़ा बनाया जाता है, उतना ही उपर्युक्त बुराइयों का जाल अधिक विस्तार पाता जा रहा है। व्यक्ति का नैतिक चरित्र जब तक अच्छा नहीं होता और व्यक्ति को इन बुराइयों के आचरण में जब तक ग्लानि तथा लज्जा अनुभव नहीं होती—ये बुराइयाँ दूर नहीं हो सकतीं। शिक्षा द्वारा जातीय चरित्र को ऊँचा किए बिना इन बुराइयों का दूर होना असम्भव है। अतः प्रारम्भिक शिक्षा का पुनःसंघटन करना अत्यन्त आवश्यक है, और इसी के द्वारा देश के पुत्र तथा पुत्रियों को राष्ट्र के हितैषी एवं सक्षम नागरिक बनाना अत्यन्त अपेक्षित है।

शताब्दियों की परतन्त्रता के कारण हमारे देश-वासियों में वीरता के आदर्शों का प्रायः लोप हो चुका है। देश पर आक्रमण के समय न केवल सेना में भर्ती हुए सैनिकों का बहादुर और शूरवीर होना आवश्यक होता है, अपितु देश के समस्त नागरिकों—पुरुष और स्त्री, युवा और वृद्ध—का भी निर्भीक तथा साहसी बने रहना आवश्यक होता है। आज-कल के युद्ध केवल दो प्रतिद्वन्द्वी सेनाओं के ही युद्ध नहीं होते। वे तो सर्वव्यापी संहारक संग्राम होते हैं, जिनमें घर में बैठे हुए नगर-वासियों और ग्राम-वासियों को भी बढ़ते हुए संहार का मुकाबला करना पड़ता है। ऐसे समय में प्रत्येक नागरिक का सैनिक शिक्षा-प्राप्त होना अत्यन्त अनिवार्य है।

अतः देश के बालक-बालिकाओं को वीरता के भावों से ओत-प्रोत करना, उन्हें मृत्यु के भय से निडर बनाना और देश के लिए बलि तक हो जाने के दृढ संकल्प से युक्त करना प्रारम्भिक शिक्षा से ही किया जा सकता है। बचपन में डाले हुए वीरता के संस्कार ही व्यक्ति में

आजीवन वीरता के भावों को दृढ-मूल बना सकते हैं।

इसके अतिरिक्त राष्ट्र के सर्वतोमुखी पुनर्निर्माण के लिए भी हमें लाखों परिश्रमी, कर्तव्य-परायण, स्वार्थशून्य कार्यकर्ताओं, शिक्षकों, इञ्जीनियरों, डाक्टरों, वैज्ञानिकों, कृषकों, श्रमिकों आदि की आवश्यकता है। जैसी भी सामाजिक रचना हम चाहते हैं, उसके अनुसार प्रारंभिक शिक्षा का क्रम निश्चित करके उसके द्वारा यत्न शुरू कर देना ही किसी परिणाम को उत्पन्न करने वाला हो सकता है।

अतः शिक्षा के महत्त्व को समझ कर उसके पुनःसंघटन में हमें शीघ्र ही प्रवृत्त हो जाना चाहिए। अन्यथा हम अपनी अदूरदर्शिता पर पछताएँगे और राष्ट्र की स्वतंत्रता को भी खो बैठेंगे।

**शिक्षा के आधार-भूत सिद्धान्त**

प्रगतिशील जनतन्त्र राष्ट्रों में शिक्षा को नीचे लिखे आधार-भूत सिद्धान्तों पर संघटित किया जाता है। स्वतन्त्र भारत को शीघ्र ही इन सिद्धान्तों को अपनाना चाहिए और शिक्षा का पुनःसंघटन अविलम्ब ही कर देना चाहिए, तभी हमारे राष्ट्र का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।

१. **पूर्ण समानता**—शिक्षा का प्रथम सिद्धान्त पूर्ण समानता है। जनतन्त्र राष्ट्रों में प्रत्येक नागरिक का पूर्ण अधिकार है कि वह अपनी योग्यतानुसार ऊँची से ऊँची शिक्षा ग्रहण कर सके। अवसर की समानता प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होनी आवश्यक है। निर्धन से निर्धन नागरिक को भी राष्ट्र के द्वारा शिक्षा के समान अवसर का प्राप्त कराया जाना आवश्यक है। पुरुष हो या स्त्री, अल्पसंख्यक जाति का हो या बहुसंख्यक जाति का, प्रत्येक को शिक्षा ग्रहण करने का समान अधिकार दिया जाना आवश्यक है।

२. **राष्ट्रीय पद्धति**—समस्त देश में एक ही शिक्षा-पद्धति होनी चाहिए और वह भी राष्ट्र के सीधे नियन्त्रण में। तभी राष्ट्र अपनी आवश्यकताओं के अनुसार भावी नागरिकों के चरित्र का निर्माण कर सकता है। शिक्षा को व्यक्तियों के अथवा साम्प्रदायिक संस्थाओं

के हाथ में छोड़ देना राष्ट्र को निर्बल बनाने का हेतु बनता है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपने-अपने दृष्टिकोण से शिक्षा दे कर बच्चों को जातीयता के एक सूत्र में ग्रथित नहीं होने देते, प्रत्युत उनमें अनेकता उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। शिक्षा पर अधिकाधिक व्यय करना राष्ट्र का प्रथम कर्तव्य है। व्यय से बचने के लिए व्यक्तियों या सप्रदायों के हाथ में शिक्षा को छोड़ देना राष्ट्र के भविष्य पर कुठाराघात करना है।

**३. धर्म से शिक्षा को पृथक् रखना**—जनतन्त्र राष्ट्रों में धर्म को व्यक्ति की निजी वस्तु माना जाता है। शिक्षा में किसी विशेष धर्म को स्थान दे कर उससे पक्षपात प्रकट करना सामाजिक न्याय के विरुद्ध समझा जाता है। प्रगतिशील देशों में धार्मिक स्वतंत्रता पूर्ण रूप में स्वीकार की जाती है, और माता-पिता को परिवार में अपने बच्चों पर स्वेच्छानुसार धार्मिक संस्कार डालने की स्वाधीनता दी जाती है। परन्तु राष्ट्रीय शिक्षणालयों में चरित्र-शिक्षण के अतिरिक्त धर्म की शिक्षा देना अनावश्यक माना जाता है।

**४. शिक्षा का अनिवार्य, सार्वजनिक और निःशुल्क होना**—राष्ट्र के शत-प्रतिशत नागरिकों का शिक्षित होना आवश्यक है। तभी वे जनतन्त्र प्रणाली में मताधिकार का सदुपयोग कर सकते हैं और तभी उत्तम राष्ट्र का निर्माण भी हो सकता है। अशिक्षित व्यक्ति देश के हितों की रक्षा नहीं कर सकते। वे प्रलोभनों अथवा भयों का शिकार बन कर अपने मत को अयोग्य व्यक्तियों के लिए दे सकते हैं, और इस तरह देश का परम अहित कर सकते हैं। अतः शिक्षा का अनिवार्य तथा सार्वजनिक होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त शिक्षा का निःशुल्क होना भी अत्यन्त अपेक्षित है। देश के किसी पुत्र तथा पुत्री को इस लिए शिक्षा से वंचित नहीं रह जाना चाहिए, क्योंकि वह शिक्षा के शुल्क को देने में असमर्थ है। प्रत्येक प्रगतिशील राष्ट्र में निःशुल्क शिक्षा देने के सिद्धान्त को स्वीकृत किया जा चुका है।

**५. राष्ट्रोपयोगिता**—शिक्षा-पद्धति का राष्ट्र की आवश्यकतानुसार

भी होना आवश्यक है। यदि राष्ट्र को आर्थिक अधःपतन से उन्नत किया जाना है, तो साधारण शिक्षा के साथ-साथ प्रत्येक विद्यार्थी को किसी व्यवसाय, हस्तकला आदि से परिचित किया जाना अनिवार्य है। यदि देश की सुरक्षा सर्व-प्रथम अपेक्षित है और उसके लिए सैनिक-शक्ति की आवश्यकता है, तो साधारण शिक्षा के साथ-साथ सैनिक-शिक्षा का दिया जाना भी ज़रूरी होता है। केवल विद्या-दान की दृष्टि से दी गई शिक्षा राष्ट्र के लिए हितकारक नहीं होती।

स्वतंत्र भारत में इन्हीं सिद्धान्तों पर शिक्षा के पुनःसंघटन की अत्यन्त आवश्यकता है। नवीन संविधान ( धारा संख्या ४५) के अनुसार अनिवार्य सार्वजनिक निःशुल्क शिक्षा के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है। परन्तु इसे क्रियात्मक बनाने के लिए पूर्ण प्रयत्न नहीं किया जा रहा। कुछ दो-एक राज्यों को छोड़ कर अन्य राज्यों में उत्तरदायी मन्त्रियों का ध्यान इस ओर नहीं जा सका। उन्हें शिक्षा के चरम महत्त्व को समझने की और अपने कर्तव्य-पालन में कटिबद्ध हो जाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

हमारे देश में साम्प्रदायिक संस्थाओं की अभी तक भरमार है। वे बच्चों में पृथक्ता की प्रवृत्तियों को बढ़ा रही हैं। इन सब संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण बहुत ही शीघ्र हो जाना चाहिए और राष्ट्र के भावी नागरिकों को सीधा राष्ट्रीय शिक्षा के प्रभाव में लाना चाहिए।

हाँ, अपने राष्ट्रीय शिक्षणालयों में सदाचार-शिक्षण का प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए। बालक तथा बालिकाओं में परस्पर-स्नेह, सहानुभूति, देश-प्रेम, निःस्वार्थता आदि के विशिष्ट गुणों को उत्पन्न करने के लिए सभी उचित साधनों का प्रयोग करना चाहिए। केवल धार्मिक संकीर्णता एवं असहिष्णुता सिखाने वाली शिक्षा उन्हें नहीं दी जानी चाहिए।

अपने देश के शिक्षाधिकारियों का ध्यान शिक्षा के राष्ट्रोपयोगिता के सिद्धान्त की ओर खींचना विशेषतया आवश्यक है। भारतवर्ष प्रकृति

द्वारा कृषि एवं व्यवसायों की सब सुविधाओं से समन्वित है। यहाँ की जल-परिपूर्ण नदियाँ और शस्य-प्रचुर भूमि देश को हरा-भरा करने के लिए पर्याप्त हैं, यदि उनका उचित उपयोग किया जा सके। एतदर्थ कृषि-शिक्षा एवं ग्रामोपयोगी व्यवसायों की शिक्षा को सार्वजनिक बनाना आवश्यक है। किन्हीं दो-एक स्थानों पर कृषि अथवा व्यवसाय महा-विद्यालय स्थापित करने की अपेक्षा यह कहीं अधिक अच्छा होगा कि नगरों में साधारणतया और ग्रामों में विशेषतया, प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा के साथ-साथ ही बाधित रूप से प्रत्येक विद्यार्थी को इन राष्ट्रोपयोगी विषयों का सामान्य ज्ञान कराके इनके क्रियात्मक वैज्ञानिक साधनों से भी उन्हें परिचित करा दिया जाए।

अपने राष्ट्र के पुनर्निर्माण का महान् कार्य सम्पन्न किया जाना है। अभी उसका आरम्भ मात्र हुआ है। पञ्चवर्षीय योजना को पूर्णतया कार्यान्वित किया जाना है। इस का बोझ देश के नवयुवक तथा नवयुवतियों पर ही पड़ना है। उन्हें उचित शिक्षा द्वारा ही इस बोझ को उठाने के योग्य बनाया जा सकता है। यदि अभी से उनमें उत्तरदायित्व की भावना को न भरा गया, तो वे देश को अग्रसर एवं उन्नत बनाने में सफल न हो सकेंगे। बहुत ही शीघ्र उत्तरदायित्व को सिखाने वाली शिक्षा का आरम्भ प्रत्येक शिक्षणालय में कर देना चाहिए। तभी हम निकट भविष्य में एक नये समाज, एक नवीन युग तथा एक नूतन—न्याय, समानता, स्वतंत्रता, एवं बन्धुत्व पर आश्रित राष्ट्र की रचना का सूत्रपात कर सकेंगे। अतः, आज जिन हाथों में नीति-निर्धारण की शक्ति निहित है, यदि वे सच्चे देशभक्त हैं, तो उन्हें तनिक भी विलम्ब न करके इस शिक्षा-पुनर्निर्माण के पुनीत कार्य में जुट जाना चाहिए। धन-सम्बन्धी कठिनाइयों का राग अलापना उनकी अयोग्यता का ही परिचायक होगा। उन्हें अपनी योग्यता का प्रदर्शन कार्य-सिद्धियों के द्वारा देना है न कि बाधाओं के निराशाजनक चित्रों के खींचने से।

**उपसंहार**

## ३५. सहशिक्षा

**भूमिका, सहशिक्षा की आवश्यकता, सहशिक्षा के सम्बन्ध में विपरीत धारणाएँ, भारत में उपादेयता, उपसंहार**

बालक-बालिकाओं का एक साथ, एक संस्था में, एक शिक्षक से शिक्षा-ग्रहण करना सहशिक्षा कहलाता है। प्राचीन भारत में जब गुरुकुल-पद्धति द्वारा शिक्षा का आयोजन होता था, तब गुरु के कुल में बालक-बालिकाएँ गुरु के पुत्र वा पुत्री सदृश निवास करते थे और उससे पितृवत् विद्या ग्रहण करते थे। महाकवि भवभूति ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'उत्तर रामचरित' में आत्रेयी छात्रा का वर्णन किया है जो श्रीराम के पुत्र लव-कुश के साथ वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में शिक्षा ग्रहण करती थी। उपनिषदों में पुरुषों के विद्वत्समाज में गार्गी का आध्यात्मिक विषयों पर विचार करना भी यही प्रकट करता है कि प्राचीन भारत में नर-नारियों का विद्या के क्षेत्र में मिलना एक साधारण घटना थी।

**भूमिका**

वर्तमान समय में सहशिक्षा की आवश्यकता के मुख्य दो कारण हुए हैं। प्रथम, स्त्री जाति में शिक्षा का तीव्रता से विस्तार, जिसे पूरा करने के लिए स्त्री-शिक्षिकाओं का अभाव होना तथा स्थान-स्थान पर पृथक् कन्या पाठशालाओं को खोलने के लिए धन का अभाव होना। मध्यकाल के अन्धकार-युग में स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखा गया और उनके लिए विद्यालयों की आवश्यकता ही अनुभव न की गई। परन्तु अब ऐसा नहीं हो सकता। सहशिक्षा की आवश्यकता का एक अन्य कारण स्त्री-पुरुष-समानता का आन्दोलन था। स्त्रियों ने पुरुषों की तरह आर्थिक स्वतन्त्रता, स्वाश्रितता, आत्मनिर्भरता आदि की अपेक्षा की और उसी शिक्षा को ग्रहण करने की उत्सुकता प्रकट की, जो उन्हें कमाने के योग्य बना सके। अतः उन्हीं शिक्षणालयों में जा कर बालिकाओं का बालकों के साथ पढ़ना और

**सहशिक्षा की आवश्यकता**

उनसे मिल जुल कर स्वावलम्बन आदि गुणों का धारण करना अनिवाय हो गया।

भारत में अशिक्षा का घना अन्धकार अभी तक देशवासियों की ८५ प्रतिशत जनसंख्या पर छाया हुआ है। उसे अब स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद शीघ्र ही दूर किया जाना है। इस महान् कार्य के लिए लाखों शिक्षकों की आवश्यकता है। ऐसे शिक्षक एकदम प्राप्त हो जाने कठिन हैं। धनाभाव के कारण लाखों शिक्षकों का वेतन भी नहीं दिया जा सकता। जब पुरुष-शिक्षकों की व्यवस्था करने में इतनी कठिनाइयाँ हैं, तो स्त्री-शिक्षिकाओं का प्रबन्ध करना तो लगभग असम्भव ही है। ऐसी अवस्था में सहशिक्षा के अतिरिक्त और क्या उपाय हो सकता है? विशेषतया आरम्भिक शिक्षा में इसकी उपादेयता के सम्बन्ध में कोई वाद-विवाद नहीं होना चाहिए।

**सहशिक्षा के संबंध में विपरीत धारणाएँ**

सहशिक्षा की नैतिक उपयोगिता के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। एक धारणा के अनुसार, बालक-बालिकाओं को एक साथ किसी भी अवस्था में रखना, चरित्र तथा सदाचार पर कुठाराघात करना है। एक वर्तमान धर्माचार्य का तो यहाँ तक कथन है कि बालक बालिकाओं के विद्यालय परस्पर सर्वथा पृथक् और एक दूसरे से, कम से कम पाँच कोस, दूर होने चाहिएँ और बालिकाओं के विद्यालय में किसी बालक का कदापि प्रवेश नहीं होना चाहिए। उस धारणा के अनुसार जैसे घी और अग्नि का सम्पर्क घी को बिना पिघलाए नहीं रह सकता, इसी तरह कन्याओं का बालकों से सम्पर्क उन्हें पतित किए बिना नहीं रह सकता। ऐसी धारणा वाले लोग अमरीका के प्रसिद्ध न्यायाधीश लिण्डसे की सम्मति को अपनी विचारधारा की पुष्टि में उद्धृत करते हैं, जिसने २० वर्ष तक बालक-बालिकाओं के न्यायालय के अध्यक्ष रूप में इस समस्या का गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया। उसके निर्णयानुसार अमरीका में सहशिक्षा द्वारा परस्पर संपर्क में आए हुए बालक-बालिकाओं में आकर्षण

का हो जाना स्वाभाविक है और उनके चरित्र में अनेक दोषों का उत्पन्न होना अनिवार्य है। इस धारणा वाले लोग मितव्ययिता के नाम पर जातीय सदाचार को भ्रष्ट करने के पक्षपाती नहीं हैं। वे भारत जैसे गर्म जलवायु वाले देश में जहाँ लिङ्ग-भावना छोटी आयु में ही उद्बुद्ध हो जाती है—सहशिक्षा के परीक्षण को विशेषतया घातक मानते हैं।

इसके विपरीत, दूसरी धारणा उन व्यक्तियों की है, जो वर्तमान सिनेमा तथा रेडियो के युग में स्त्री-पुरुषों को एक दूसरे से पर्दे में रखना, उन्हें दो अछूत वर्गों में मर्यादित करना और लौह भित्तियों से पृथक् करना असम्भव ही नहीं, अवाञ्छनीय भी मानते हैं। उनकी विचारधारा के अनुसार स्त्री-पुरुषों का सभाओं, उत्सवों, शिक्षणालयों में परस्पर समीप आना समाज के नैतिक वातावरण को उन्नत करने वाला होता है। एक दूसरे से छिप कर रहने से कहीं अधिक पापवासनाओं का हृदयों में उद्गार होता है और उनको दबाने की चेष्टा में व्यक्तियों के शारीरिक तथा मानसिक विकास का कहीं अधिक प्रतिबन्ध होता है। स्त्री-पुरुषों के परस्पर-मिलन के सामान्य हो जाने पर, परस्पर आकर्षण की कमी होती है और कुत्सित वासनाओं का भी कम संचार होता है। इससे सामाजिक जीवन का स्तर ऊँचा उठता है और मनुष्य जाति के सर्वाङ्गीण विकास में सहायता प्राप्त होती है।

प्रारम्भ में सम्भव है कि सहशिक्षा से अपरिचित युवक और युवतियाँ असाधारण वातावरण में कुछ स्खलन अथवा भूलों के शिकार बन जाएँ, परन्तु शनैः शनैः इन प्रमादों और त्रुटियों का कम हो जाना स्वाभाविक है। पश्चिम के देशों में सहशिक्षा का परीक्षण इस लिए नहीं छोड़ दिया गया कि वहाँ कुछ बालक-बालिकाओं ने अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन किया। अमरीका में भी जज लिण्डसे की सम्मति के विरुद्ध भी सहशिक्षा का प्रचार बढ़ता ही जाता है। कई वर्षों के परीक्षण के बाद, ऐसा परिणाम देखा गया है कि सहशिक्षा से उत्पन्न होने वाले दोष क्रमशः घटते ही गए हैं। इन देशों में आज स्त्री-पुरुष समान स्वतन्त्रता

का उपभोग करते और परस्पर समान रूप से राष्ट्रोत्थान तथा जातीय निर्माण में भाग लेते हैं।

भारत के नवीन संविधान में स्त्री-पुरुषों के समान अधिकारों का सिद्धान्त वैधानिक रूप में स्वीकार किया गया है । यह तभी कार्यान्वित किया जा सकता है, जब दोनों को समान शिक्षा का अवसर प्रदान किया जाय । जीवन की कोई दिशा इसलिए किसी के प्रति बन्द न होनी चाहिए क्योंकि वह स्त्री है या पुरुष । समानता के इस सिद्धान्त का पालन तभी हो सकता है, जब उनके परस्पर सम्पर्क में कम से कम बाधाएँ उपस्थित की जाएँ।

सहशिक्षा से बालक नम्रता, शिष्टाचार, मधुरता, सहृदयता, सहानुभूति आदि बालिकाओं के सहज गुणों को सीखते हैं और बालिकाएँ साहस, कठोरता, व्यवहार-चातुर्य, शूरता, देशप्रेम आदि भावनाओं को बालकों से ग्रहण करती हैं । इस परस्पर आदान-प्रदान से एक दूसरे की क्षतियों की पूर्ति होती है और व्यक्तित्व की पूर्णता में सहायता प्राप्त होती है । इस सम्पर्क से नैतिक सदाचार सबल होता है और उसकी निर्बलताएँ दूर होती हैं।

**भारत में उपादेयता**

भारत में सहशिक्षा की उपादेयता के सम्बन्ध में यहाँ की जलवायु का उल्लेख किया जाता है। यहाँ के धर्मभीरु सुधारकों का कथन है कि बालक-बालिकाओं के संपर्क से पतन, महापतन ही अवश्यंभावी परिणाम हो सकता है । इस देश की युवतियाँ और युवक बहुत शीघ्र प्रौढ हो जाने के कारण परस्पर आकर्षण का शिकार बन जाते हैं और आत्मसंयम न कर सकने के कारण विवाह-मर्यादा का उल्लंघन कर देते हैं । अतः उन्हें पृथक् पृथक् रखना और पृथक् पृथक् शिक्षित करना ही भारत की प्राचीन परम्पराओं, मर्यादाओं तथा शास्त्रीय व्यवस्थाओं के अनुकूल है। शास्त्र का तो यहाँ तक आदेश है कि 'पुरुष अपनी बहिन, पुत्री एवं माता के साथ भी एक शय्या पर न बैठे, क्योंकि इन्द्रिय-ग्राम

अति बलवान् है, जो विद्वान् व्यक्ति के मन को भी चञ्चल बना देता है।' (मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नैकशय्यासनो भवेत्। बलवानिन्द्रिय-ग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥)

परन्तु वर्तमान युग तो नारी-उत्थान का युग है। इसमें स्त्री को मनुष्य की भोगवासना-तृप्ति का साधन मात्र मानना अपनी मूर्खता को प्रकट करना है। नारी को अपने समान सजग, सजीव एवं सचेतन प्राणी मानते हुए, मनुष्य को उसे पूर्ण तथा समान अधिकार प्रदान करने हैं और अपने को आत्म-संयम में रखते हुए, उसकी स्वाधीनता का आदर करना है। सहशिक्षा में नवयुवकों को युवतियों के प्रति पाशविक वृत्ति से नहीं बर्तना चाहिए, अपितु उन्हें अपने समान विद्याधिकारी मानते हुए, पवित्र भावनाओं से उनके साथ व्यवहार करना चाहिए।

भारत कोई निराला देश नहीं है। सहशिक्षा के जो परीक्षण अन्य देशों में सफल बनाए जा सकते हैं—इस देश में भी सफल हो सकते हैं। हमारे देश में इस परीक्षण का असफल होना, हमारे नैतिक जीवन पर कलंक के समान होगा। हमें भारत में इसे सफल बनाना होगा और अपने उच्च चरित्र-सम्बन्धी आदर्शों को क्रियात्मक करके दिखाना होगा।

**उपसंहार**

स्वतन्त्रता के बाद नियुक्त किए गए भारतीय युनिवर्सिटी कमीशन ने भी अपनी रिपोर्ट में सहशिक्षा के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उसके मतानुसार प्रारम्भिक शिक्षा में तथा उच्चतम शिक्षा में इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करना आवश्यक एवं उपयोगी है। माध्यमिक-शिक्षा की अपरिपक्व अवस्था में ही कमीशन छात्र-छात्राओं को एकत्रित रखना उचित नहीं मानता। हमारी सम्मति में सहशिक्षा का सिद्धान्त सभी अवस्थाओं में उपादेय हो सकता है—यदि बालक-बालिकाओं के सदाचार को सुदृढ बना दिया जाए और संस्थाओं के अध्यापकों एवं आचार्यों के निरीक्षण एवं नियन्त्रण को अधिक कठोर कर दिया जाए।

---

# ३६. युद्धों की अनिवार्यता

## भूमिका, युद्धों की अनिवार्यता के कारण, युद्धों के कुछ अच्छे परिणाम, वर्तमान महायुद्ध, उपसंहार

युद्ध एक बुरी संस्था है। परन्तु सृष्टि के आरम्भ से उनकी अनिवार्यता स्पष्ट है। न केवल ग्रीस और रोम के इतिहास में निरन्तर होने वाले भिन्न-भिन्न जातियों के युद्धों का वर्णन हमें प्राप्त होता है अपितु भारत के अपने इतिहास में भी वैदिक काल से इन युद्धों की सामान्यता दिखाई देती है।

**भूमिका**

वेदों के देवासुर-संग्राम, दाशराज्ञ युद्ध, इन्द्रवृत्र-युद्ध आदि इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि भारत में प्राचीनतम समय से युद्ध-संस्था की उपादेयता को स्वीकार किया गया है। रामायण काल में एक स्त्री के लिए, महाभारत काल में सत्ता-प्राप्ति के लिए जो भीषण महायुद्ध हुए, वे भी इसी यथार्थता को संपुष्ट करते हैं कि चाहे सत्ययुग हो या त्रेता, द्वापर हो या कलियुग—प्रत्येक युद्ध में अपने-अपने युग-धर्म के निश्चायक रहे हैं। वस्तुतः युद्ध तो एक युग से दूसरे युग की संक्रान्ति कराने वाले बने हैं, जिनसे पुरानी सामाजिक व्यवस्थाएँ बदल कर नवीन सामाजिक अवस्थाओं का रूप धारण कर सकी हैं।

विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यजाति की प्रगति संघर्ष के साथ होती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक डार्विन ने संघर्ष को जीवन का नियम बतलाया है। उसके मतानुसार निर्बल एवं अशक्त का नाश प्रतिक्षण होता रहता है और उसका स्थान सबल एवं सशक्त लेता रहता है। कृमि-जगत् में, पशु-जगत् में, पक्षिजगत् में—सर्वत्र यही नियम काम कर रहा है। इसका मनुष्य-जगत् में भी प्रसारित होना नितान्त स्वाभाविक है। मनुष्य अपनी जंगली अवस्था में पशु के समान शिकार के लिए लड़ा करता था, भूमि तथा औरत के लिए युद्ध किया करता था। सभ्य होने के

**युद्धों की अनिवार्यता के कारण**

बाद भी, उसकी लड़ने की प्रवृत्ति कम नहीं हुई, अन्तर केवल लड़ने के साधनों में ही पड़ा।

प्रकृति की दी हुई पृथ्वी सीमित है। परन्तु उस पर बसने वाली मनुष्य जाति प्रतिवर्ष तीव्र वेग से बढ़ती जा रही है। पृथ्वी माता की उत्पादन-शक्ति ह्रास के सिद्धान्तानुसार कम होती जा रही है और प्रतिवर्ष खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति न्यून होती जा रही है। इसका अवश्यम्भावी परिणाम युद्ध है। नैतिक दृष्टि से युद्ध कितने भी अनुचित क्यों न हों, परन्तु केवल जीवन धारण करने की दृष्टि से, अस्तित्व-रक्षा की दृष्टि से ही, वे मनुष्य समाज में सर्वथा स्वाभाविक हो गए हैं। आज जातियाँ और राष्ट्र युद्ध किए बिना जीवित नहीं रह सकते।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने स्वयं युद्ध को धर्म का रूप दिया है। उनका निम्नलिखित शब्दों में अर्जुन को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करना, युद्ध की अनिवार्यता को ही प्रकट करता है:—

"हे अर्जुन! तुम स्वधर्म का पालन करते हुए, युद्ध करने में संकोच न करो। क्षत्रिय के लिए युद्ध से बढ़ कर कोई अन्य धार्मिक कर्तव्य नहीं हो सकता। यदि तुम युद्ध में मर जाओगे तो स्वर्ग को प्राप्त करोगे—यदि विजयी होगे तो पृथ्वी का भोग करोगे। हे कुन्तीपुत्र! तुम उठो, और युद्ध के लिए कमर बाँध लो।" (स्वधर्ममपि चावेक्ष्य, न विकम्पितुमर्हसि। धर्म्याद् हि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥ हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय! युद्धाय कृतनिश्चयः॥)

हिन्दू धर्मशास्त्रों में तो युद्ध को यज्ञ का रूप दिया गया है—जिसमें वीरों की बलि दी जाती है और उनकी आहुतियों से राष्ट्र के वातावरण को सुगन्धित किया जाता है। ऐसे युद्ध ही जातियों को जीवित-जागृत रखते हैं। अश्वमेध, राजसूय तथा विश्वजित् यज्ञ इन युद्धों के प्रतीकमात्र थे।

युद्धों से जहाँ मनुष्य जाति का संहार होता है—नगरों, गृहों

उद्योगमन्दिरों, कारखानों, धान्यागारों आदि का नाश होता है, वहाँ सृष्टि के विकास में एक नया पृष्ठ बदलने का अवसर भी प्राप्त होता है। पिछले सामाजिक संघटन को बिना धक्का दिए, बदला नहीं जा सकता। दो युगों की संक्रांति युद्ध द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। ये युद्ध उन्नति-पथ पर मार्ग-प्रदर्शक पत्थरों (Milestones) के समान हैं जिनको तय करती हुई मनुष्य जाति अपनी यात्रा के अन्तिम ध्येय तक पहुँचने में सफल होती है।

**युद्धों के कुछ अच्छे परिणाम**

योरोप में जर्मनी के अनेक दार्शनिकों एवं तत्त्ववेत्ताओं ने युद्ध को नितान्त आवश्यक तथा कल्याणकर संस्था घोषित किया है। सुप्रसिद्ध विचारक हेगल का मन्तव्य है कि 'दीर्घकालीन शान्ति से देश में भ्रष्टाचार फैल जाता है, जाति निर्बल हो जाती है। युद्ध ही उसे नैतिक अधःपतन से बचाने का एकमात्र साधन है।' एक अन्य विचारक फीश्टे का कथन है कि 'युद्ध मनुष्यजाति की उन्नति का दैवी साधन है, यह मानुषिक चेष्टाओं की उच्चतम तथा पवित्रतम अभिव्यक्ति है।' बर्नहार्डी के मत में "युद्ध जातियों को प्रमाद तथा आलस्य से प्रबुद्ध करने वाला होता है। युद्ध में ही पुरुष का पुरुषत्व है।" ट्रीट्स्के का विचार है कि "युद्ध वह औषध है, जिससे राष्ट्र की अनेक व्याधियों का उपचार हो जाता है।" नीट्शे की सम्मति में "युद्ध जातीय चरित्र का निर्माण करने वाला है, इसके द्वारा देशभक्ति, वीरता, त्याग, तपस्या, निर्भयता आदि अनेक सदाचार के उदात्त गुणों को जाति में फूँका जा सकता है।"

युद्धों में उद्योगों को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। नए-नए व्यवसायों का आरम्भ होता है। कृषि को उन्नत किया जाता है और विज्ञान की प्रयोगशालाओं में दिन-रात परिश्रम करके नए-नए आविष्कारों को सम्भव बनाया जाता है—जो मनुष्यजाति को आगे ले जाने वाले होते हैं। जहाँ युद्धों में बड़े-बड़े कारखानों का विनाश होता है, नगरों और ग्रामों का संहार होता है, वहाँ उन्हीं की राख पर वैज्ञानिक प्रगति के

कारण आगे से भी अधिक सृष्टि की रचना होती है। युद्धों द्वारा जातीय रोगों का निराकरण हो कर स्वास्थ्य-लाभ होता है और स्वस्थ हो कर जाति का प्रत्येक अंग नवनिर्माण के कार्य में दुगुने और तिगुने उत्साह से संलग्न हो जाता है। रूस में लेनिनग्राद, स्तालिनग्राद और जापान में नागासाकी तथा हिरोशीमा आज से कहीं अधिक सुव्यवस्थित तथा सुन्दर रूप में उठ खड़े हुए हैं। युद्धों द्वारा तो उनकी कुरूपता को ही नष्ट करने का अवसर प्राप्त हुआ है।

कहा जाता है कि युद्धों द्वारा जाति के भूषण, राष्ट्र की उदीयमान आशाओं—नवयुवकों और नवयुवतियों—का संहार हो जाता है और उससे देश का भविष्य अन्धकारमय बन जाता है। परन्तु गत दोनों महायुद्धों का अनुभव इस स्थापना का समर्थन नहीं करता। यदि प्रथम युद्ध में जर्मनी के नवयुवकों का नाश हो गया था, तो कुछ वर्ष बाद द्वितीय युद्ध में इतने शीघ्र ही, पुनः दुनिया से टक्कर लेने की शक्ति उसमें कहाँ से आ गई? सत्य तो यह है कि युद्ध वह अग्नि है, जिसमें से गुज़र कर जातियाँ सोने से कुन्दन बन जाती हैं। प्रत्येक अग्नि-परीक्षा से उनका चरित्र अधिक उज्ज्वल तथा देदीप्यमान हो जाता है।

युद्ध बर्बर संस्था होती हुई भी, अपने में कुछ ऐसे उज्ज्वल अंशों को धारण करती है कि सभ्य होने के बाद भी मनुष्य इसका परित्याग नहीं कर सका है।

वस्तुतः युद्ध की बर्बरता को तभी घोषित किया जाता है, जब देश निर्बलता के कारण आक्रान्ता का सामना करने में अपने को अशक्त पाता है। सबल अवस्था में वह युद्ध को असभ्य अथवा पाशविक संस्था न बतला कर उसे दैवी विभूति कहता है।

**वर्तमान महायुद्ध**

द्वितीय महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों ने संसार में जनतन्त्र-प्रणाली एवं स्वतन्त्रता की रक्षा करना अपना ध्येय घोषित किया। इसके लिए उन्होंने हिटलर को शैतान कह कर अपने मार्ग को न्याय का मार्ग कहा। हिटलर ने अपने भाषणों में जर्मनी के पक्ष को सत्य एवं न्याय

पर प्रतिष्ठित घोषित किया और ईश्वर के अपने साथ होने का दावा भरा। दोनों ही पक्षों ने युद्ध द्वारा अपने मार्ग को साफ कर के उन्नतिपथ पर अग्रसर होने का निश्चय किया।

आगामी तृतीय युद्ध तो, जिसकी तैयारियों में सभ्य जातियाँ फिर से जुट रही हैं, सर्वथा ही विचारधाराओं के संघर्ष का युद्ध होगा। इस में यह निर्णय किया जाएगा कि भविष्य में मनुष्य जाति का जीवन-प्रकार ( Way of life ) पूँजीवाद के तरीके पर ही अवलम्बित होगा अथवा समाजवाद के अनुसार उसे बदला जाएगा। अब तक कृषकों, श्रमियों, कुलियों तथा अन्य पीडित वर्गों को धनपतियों, ज़मीन्दारों तथा शोषक शक्तिधरों का शिकार मात्र बनाया गया है। इस तृतीय युद्ध में निश्चय किया जाएगा कि क्या वर्तमान सामाजिक अवस्था ज्यों की त्यों रहनी उचित है कि उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तनों की आवश्यकता है।

**उपसंहार**

अन्त में इतना ही कथन शेष है कि युद्ध के दोषपूर्ण होते हुए भी उसमें कुछ गुणों की विद्यमानता अवश्य है। सृष्टि के शाश्वत प्रवाह में इसीलिए युद्धों की अनिवार्यता है। सभ्यता की उन्नति के साथ भी इसका निराकरण नहीं किया जा सका। भविष्य में भी शायद किसी ऐसे समय की कल्पना नहीं की जा सकती, जब इनका सर्वथा अभाव हो जाएगा अथवा इन्हें मनुष्यजाति द्वारा परित्याग कर दिया जाएगा। मनुष्यजाति तो इन युद्धों का आश्रय ले कर ही अपने पुराने जीर्ण-शीर्ण सामाजिक संघटन को तोड़ती हुई, विकास के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगी।

———

## ३७. जोसफ स्तालिन

### भूमिका, सोवियत रूस का जन्म, स्तालिन का जीवन-वृत्त, स्तालिनवाद, उपसंहार

अक्तूबर १६१७ की क्रान्ति से पूर्व रूस में अत्याचारी ज़ार राजाओं का शासन था। उनसे प्रजा बहुत पीड़ित थी। विशेषतया किसान और मजदूर उनके अमानुषिक एवं नृशंस व्यवहारों से अत्यन्त दुःखी थे। जमीनों पर कुलक लोग ज़ारों की सहायता से, पसीना बहा कर अनाज पैदा करने वाले किसानों का खून चूसते थे और उनके परिश्रम का सारा फल छीन ले जाते थे। ये किसान सर्वथा अकिञ्चन तथा निस्सहाय हो चुके थे। शहरों में मजदूरों की वही अवस्था थी। पूँजीपति लोग उन्हें अपने परिश्रम के फल से वञ्चित रखते थे और उनसे कारखानों में दिन-रात काम लेते थे। सामाजिक विषमता बढ़ती जा रही थी और उसके साथ शोषित वर्गों में असन्तोष भी बढ़ता जा रहा था। इस विषमता तथा असन्तोष का उल्लेख सब से प्रथम कार्लमार्क्स ने अपनी सुविख्यात पुस्तक 'केपिटल' में किया और संसार के विचारशील व्यक्तियों का ध्यान इस तरफ़ खींचा कि पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों को उनके परिश्रम का पूरा फल नहीं दिया जाता, अपितु पूँजीपति उसे छीन कर बड़े-बड़े मुनाफे पैदा करते हैं। इस निरन्तर शोषण द्वारा ही समाज में विषमता की भयङ्कर स्थिति उत्पन्न होती है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम क्रान्ति है।

**भूमिका**

मार्क्स के इन विचारों का प्रभाव शिक्षित वर्ग पर धीरे-धीरे होने लगा। प्रगतिशील व्यक्तियों ने मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए स्थान-स्थान पर मजदूर संघ स्थापित किए। 'सोशल-डेमोक्रेट' नाम के एक दल की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य समाज से विषमता दूर करना और स्वेच्छाचारी

**सोवियत रूस का जन्म**

राज्य को समाप्त करके जनसत्ता कायम करना था। लेनिन इस दल का नेता था। सन् १९०० में उसने 'इस्करा' नाम के एक समाचारपत्र का प्रकाशन आरम्भ किया—जिसमें मार्क्स के उपर्युक्त विचारों का प्रचार किया जाने लगा। इन विचारों का प्रसार तीव्र गति से होने लगा और रूस के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सोशल डेमोक्रेट दल की शाखाएँ खुल गईं। १९०१ में जार्जिया प्रान्त से एक अन्य साम्यवादी पत्र 'ब्रजोला' (संघर्ष) प्रकाशित होना शुरू हुआ। जोसफ-स्तालिन उस समय जार्जिया प्रान्त के तिफलिस नाम के नगर में किसी प्रयोग-शाला में काम करता था। उसके मन पर मार्क्स तथा लेनिन के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। उसने 'सोशल डेमोक्रेट' दल में सम्मिलित हो कर रूस में क्रान्ति उत्पन्न करने का गुप्त रूप से प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। वस्तुतः इन्हीं दो महान् पुरुषों—लेनिन और स्तालिन—के निरन्तर प्रयत्नों का परिणाम ही अक्तूबर १९१७ की क्रान्ति थी, जिसने न केवल नवीन महान् राष्ट्र सोवियत रूस को जन्म दिया, अपितु समस्त विश्व में ही एक नवीन युग को उत्पन्न कर दिया।

**स्तालिन का जीवन-वृत्त**

जोसफ-स्तालिन का जन्म २१ दिसंबर १८७९ को, तिफलिस प्रान्त के गोरी नाम के नगर में हुआ। उसके पिता विसारिओन का व्यवसाय जूते बनाना था। उसकी माता एकातरीना एक गरीब किसान-परिवार की लड़की थी।

जोसफ-स्तालिन ने १८८८ में गोरी के एक धार्मिक विद्यालय में प्रवेश किया और १८९४ में वहाँ की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके तिफलिस में एक अन्य उच्च धार्मिक संस्था में पढ़ना आरम्भ किया। यह वह समय था, जब पूँजीवाद की स्थापना के साथ श्रमिकवर्ग का आन्दोलन शुरू हो चुका था और मार्क्स के विचारों का तीव्रता से प्रसार हो रहा था। लेनिन ने सेंट-पीटर्सबर्ग में 'सोशल-डेमोक्रेट' नाम से एक ऐसे दल का संघटन कर दिया था, जिसका उद्देश्य श्रमिकों

को पूँजीवाद के पंजे मे मुक्त करना था। काकेशिया प्रान्त में इस श्रमिक-आन्दोलन का प्रसार विशेष तीव्रता से हो रहा था, क्योंकि वहाँ ज़ार-शासकों के अत्याचारों से प्रजा अत्यधिक पीड़ित थी। किसानों तथा मजदूरों के साथ नृशंसता का व्यवहार हो रहा था। तेल तथा खनिज पदार्थों का व्यवसाय विदेशी पूँजीपतियों के हाथों में था, जो देश का आर्थिक शोषण कर रहे थे। लेनिन के शब्दों में "काकेशस के भोले-भाले पहाड़ी लोग, जो संसार से अलग सन्तोष का जीवन व्यतीत करते थे, इन पूँजीपतियों की धनलिप्सा का शिकार बन रहे थे और वे धन-उत्पादन का उपकरणमात्र बनाये जा रहे थे।"

रेलवे की रचना हो जाने के बाद काकेशस में एक बड़े मजदूर-वर्ग की उत्पत्ति हुई और बाकू नगर में तेल-व्यवसाय के समृद्ध होने पर वह नगर विशेष रूप से श्रमिक-आन्दोलन का केन्द्र बन गया।

काकेशिया में बढ़ते हुए मार्क्सवाद का प्रभाव तत्कालीन युवकों पर पड़ना स्वाभाविक था। तिफलिस की धार्मिक संस्था के विद्यार्थी स्तालिन पर भी यह प्रभाव पड़ा और उसके चित्त में पूँजीवाद के विरुद्ध विद्रोह की भावना प्रदीप्त होने लगी। पन्द्रह वर्ष की आयु में ही स्तालिन क्रान्तिकारी बन गया। स्तालिन ने मार्क्स तथा एंजल्स के साहित्य को अच्छी तरह पढ़ा और लेनिन की समय-समय पर प्रकाशित विज्ञप्तियों को हृदयङ्गम किया। इनके अतिरिक्त इतिहास, अर्थशास्त्र, विज्ञान एवं दर्शन का भी उसने गम्भीर अध्ययन किया। इस तरह वह एक सुशिक्षित मार्क्सवादी बन गया। इसी युवा अवस्था में उसने श्रमिकों म जा कर मार्क्सवाद पर व्याख्यान दिए, उनमें हड़तालें संघटित कीं तथा छोटे-छोटे सूचनापत्र प्रकाशित करके, उनमें चेतना को उत्पन्न किया।

इस मार्क्सवादी प्रचार के अपराध में स्तालिन को मई १८६६ में तिफलिस के शिक्षणालय से निकाल दिया गया। वहाँ से निकल कर वह तिफलिस की वैज्ञानिक प्रयोगशाला में काम पर लग गया और खाली

समय में अपने प्रचार-कार्य में यथापूर्व व्यस्त रहा। साम्यवादी विचारों का विस्तार शीघ्रता से होने लगा।

जब १९०० में लेनिन ने अपना पत्र 'इस्करा' प्रकाशित किया, स्तालिन ने उसकी नीति के साथ अपने को सर्वथा अभिन्न बना कर, लेनिन को अपना शिक्षक एवं नेता स्वीकार करते हुए, उसकी क्रान्तिकारी शिक्षाओं को क्रिया में परिणत करने की पूर्ण चेष्टा आरम्भ की। ज़ार की खुफिया पुलिस ने जब प्रयोग-शाला में आ कर उसे कैद करने का प्रयत्न किया, वह उनकी पकड़ से बच कर निकल गया।

१९०१ में स्तालिन को तिफ्लिस की सोशल डेमोक्रेट पार्टी की तरफ से बेटम में भेजा गया—जो एक औद्योगिक नगर था। स्तालिन ने वहीं जा कर एक छापाखाना लगाया और प्रगतिशील साहित्य प्रकाशित करके श्रमिकों में पूँजीवाद के अन्याय के विरुद्ध विद्रोहाग्नि को प्रदीप्त किया। मजदूरों के एक बड़े प्रदर्शन का स्वयं नेतृत्व कर के उसने पूँजीपतियों के गढ़ को हिला दिया।

अप्रैल १९०२ में स्तालिन को गिरफ्तार कर लिया गया और पूर्वी साइबेरिया के किसी गाँव में तीन वर्ष के लिए नज़रबन्द कर दिया गया। यहाँ रहते हुए उसे लेनिन का प्रथम पत्र प्राप्त हुआ, जिससे उनका आपस में परिचय हुआ। जनवरी १९०४ में स्तालिन साइबेरिया के निर्वासन से भाग आया और काकेशिया में आ कर पुनः उसने अदम्य उत्साह के साथ क्रान्ति के लिए कार्य आरम्भ किया।

१९०५ के दिसम्बर मास में स्तालिन ने बाल्शेविक सम्मेलन के अवसर पर लेनिन से पहली बार भेंट की। उस समय मास्को में सशस्त्र क्रान्ति का विफल प्रयास हुआ था। परन्तु इससे निराश न हो कर बोल्शेविक दल ने अधिक उत्साह से लक्ष्य-सिद्धि के लिए प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया था। स्तालिन को व्यवसाय के केन्द्र बाकू में नियुक्त किया गया था, जो शीघ्र ही क्रान्तिकारी चेष्टाओं का भी केन्द्र बन गया था।

अतिरिक्त खानें, जंगल, सब बड़े-बड़े व्यवसाय तथा अन्य सब उत्पत्ति के साधन भी राष्ट्र की सम्पत्ति घोषित कर दिए गए। इन सब घोषणाओं से किसान-मजदूरों के हाथों में राजसत्ता आ जाने का कार्य पूर्ण हो गया।

बोल्शेविक दल ने अब प्रथम सोवियत शासन की स्थापना की। स्तालिन को रूस की विभिन्न जातियों को एक राष्ट्र में संघटित करने का कार्य दिया गया, जिसे उसने योग्यता से सम्पन्न किया। अक्तूबर क्रान्ति ने पूँजीवाद को समाप्त किया और पूँजीपतियों से उत्पत्ति के साधनों को छीन कर ज़मीन, कारखाने, रेलवे, बैंक इत्यादि सब पर जनता का स्वामित्व स्थापित कर दिया। इन क्रान्तिकारी परिवर्तनों को देख कर कुछ विदेशी शक्तियों ने इस क्रान्ति को विफल बनाने का यत्न किया और रूस में ही ट्राट्स्की आदि नेताओं को. उसके विरुद्ध कर दिया। परन्तु लेनिन तथा स्तालिन ने बड़ी दृढ़ता से इस विरोध का सामना किया और उसे कुचल दिया। स्तालिन के विशेष प्रयत्नों से दिसम्बर १९२२ में रूस के सब राज्यों का सम्मेलन हुआ और सब स्वतन्त्र गणराज्यों को एकत्र करके, संयुक्त सोवियत संघ (U.S.S.R.) की स्थापना हुई। इस से रूस संसार की एक महान् अजेय शक्ति बन गया। १९२२ के बाद से, कार्य की अधिकता के कारण लेनिन का स्वास्थ्य गिरता गया और जनवरी १९२४ में उसका मास्को के समीप गोर्की ग्राम में देहान्त हो गया। अब लेनिन के महान् कार्य को जारी रखने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व स्तालिन पर आ पड़ा।

**स्तालिनवाद**

वस्तुतः मार्क्सवाद को क्रिया में परिणत करने का कार्य स्तालिन ने ही किया। लेनिन को उसके आरम्भ मात्र करने का अवसर प्राप्त हुआ था। स्तालिन ने १९२९ में एक विशाल पंचवर्षीय योजना तैयार की, जिसके अनुसार सोवियत रूस में राष्ट्र द्वारा सब बड़े-बड़े व्यवसायों को विकसित करने का आयोजन किया गया। इसके अतिरिक्त कृषि को उन्नत करने के लिए सामुदायिक कृषि-प्रणाली ( collective farm system ) को

प्रारम्भ किया, जिसके अधीन जमीनों को राष्ट्र की तरफ से कुछ सम्मिलित परिवारों को दे दिया गया और उन्हें मिल कर वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग करके उत्पादन को बढ़ाने के लिए प्रेरित किया गया। स्तालिन ने अपने व्यक्तिगत निरीक्षण में वैज्ञानिक उपकरणों का कृषि के लिए प्रयोग प्रोत्साहित किया और उद्योग-धन्धों की उत्पत्ति की तरफ भी विशेष ध्यान दिया।

१९३६ में स्तालिन ने समाजवादी संघटन के अनुसार सोवियत रूस के नवीन संविधान का निर्माण किया, जिसमें पूँजीवाद की सब संस्थाओं को समाप्त कर के साम्यवाद के लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए आवश्यक नियमों का समावेश किया गया।

सोवियत रूस आज संसार का एक महान् प्रगतिशील राष्ट्र है। अक्तूबर १९१७ की क्रान्ति के बाद केवल ३०-३५ वर्षों में ही वहाँ चमत्कार-पूर्ण उन्नति हुई है। सामाजिक विषमता को हटा कर

**उपसंहार**

प्रत्येक व्यक्ति को सम्मानपूर्ण एवं उपयोगी जीवन व्यतीत करने अवसर प्रदान किया गया है। भूख, नग्नता वा निर्धनता को उस देश से सर्वथा निकाल दिया गया है। राष्ट्र द्वारा उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने का सब को अधिकार दे दिया गया है। जन्म से मृत्यु तक प्रत्येक व्यक्ति की जीवनरक्षा, पालन-पोषण, स्वास्थ्यरक्षा, वृद्धावस्था में सहायता आदि का सब उत्तरदायित्व राष्ट्र ने अपने ऊपर ले लिया है। समाजवाद के इन सब सिद्धान्तों को क्रिया में परिणत करने का श्रेय स्तालिन को प्राप्त है। इस समाजवाद का प्रभाव प्रत्येक उन्नत राष्ट्र पर स्पष्ट दिखाई दे रहा है। स्तालिन समस्त विश्व से आर्थिक शोषण को समाप्त हुआ देखना चाहता है, जो उसकी सम्मति में शोषक वर्गों के नष्ट होने पर ही समाप्त हो सकता है। आगामी तृतीय महायुद्ध सम्भवतः इसी बात का निर्णय करेगा कि क्या संसार में पूँजीवाद को अब अधिक देर जीवित रहना मिल सकेगा अथवा उसका स्थान समाजवाद को लेना होगा।

# ३८. माओ-से-तुंग

## भूमिका, नये चीन का जन्म, माओ का जीवन-वृत्त, माओवाद, उपसंहार

चीन एशिया का ही नहीं संसार का सबसे बड़ा देश है। इसमें विश्व की आबादी का पाँचवाँ भाग निवास करता है। इस देश की सभ्यता बहुत पुरानी है। कनफ्यूशियस चीन जाति का प्राचीनतम शिक्षक था। महात्मा बुद्ध की तरह इसने भी अहिंसा और प्रेम का उपदेश दिया। इन शिक्षाओं का प्रभाव चीन जाति के लोगों पर आज तक दिखाई देता है। वे स्वभाव से शान्तिप्रिय हैं। पिछली कुछ शताब्दियों में विदेशी शक्तियों ने चीन का आर्थिक शोषण आरम्भ किया। अतः वहाँ की जनता अति-निर्धन और निस्सहाय हो गई। विशेषतया विशाल चीन के गाँवों में रहने वाले करोड़ों किसान आर्थिक शोषण का शिकार बने और मजदूर भी शहरों में पूँजीपतियों की दासता में जकड़े गए। पीडित वर्गों में घोर असन्तोष छाया हुआ था। इसका अवश्यम्भावी परिणाम क्रान्ति था।

**भूमिका**

रूस में अक्तूबर १९१७ में एक महान् क्रान्ति हुई। अत्याचारी ज़ारों को समाप्त करके उस देश में जनता का प्रभुत्व स्थापित हुआ। शोषित वर्गों ने शोषकों से मुक्ति प्राप्त की और एक नवीन साम्यवादी युग का आरम्भ हुआ। इस महान् क्रान्ति का प्रभाव अन्य देशों के पीड़ित वर्गों पर पड़ना अनिवार्य था। इस के परिणाम स्वरूप ही जुलाई १९२१ में चीन के शंघाई नगर में साम्यवादी दल की स्थापना हुई। कुछ ही वर्षों में यह दल शक्तिशाली हो गया। माओ-से तुंग ने आरम्भ से ही इस दल में सक्रिय भाग लेना शुरू किया। १९२७ से ले कर लगभग २० वर्षों तक उसने देश के पीड़ित किसानों को संघटित किया। उनमें से उसने एक बड़ी सेना तैयार की और शासन-सत्ता से टक्कर लेना

**नये चीन का जन्म**

शुरू किया। उस समय अमरीका की छत्रच्छाया में रह कर चाँग-काई शेक चीन पर शासन कर रहा था। वह पूँजीवाद का दास था, उसने जनता को आर्थिक शोषण से मुक्त करने की कोई चेष्टा न की थी। किसान और मजदूर उसके शासन से अत्यन्त असन्तुष्ट थे। वे साम्यवादी नेता माओ-से-तुंग को अपने मुक्तिप्रदाता के रूप में देख रहे थे। लाखों की संख्या में वे उसकी सेना में भर्ती हो गए।

अप्रैल २४, १९४९ के प्रातः काल नए चीन का जन्म हुआ। चांग-काई-शेक और माओ-से-तुंग की सेनाओं के परस्पर स्थान-स्थान पर घोर संघर्ष के बाद, इस दिन नानकिंग में जब माओ की सेना ने प्रवेश किया, तो चांग की सरकार अपनी इस राजधानी को छोड़ कर भाग गई। जनता ने लाखों की संख्या में चीनी लोक-नृत्य यांगकोट के साथ नानकिंग के राजमार्गों पर माओ की सेना का स्वागत किया। बिना युद्ध के ही नानकिंग जीता गया। चांग-काई-शेक की कुछ सेना माओ की लोक-सेना में मिल गई और कुछ शंघाई की तरफ भाग गई। चांग-काई-शेक को अब तैवान ( फार्मोसा ) में जा कर विश्राम लेना था। वस्तुतः यह आश्चर्य-घटना ही थी कि माओ की शस्त्रास्त्रों से असज्जित सेना ने अमरीका द्वारा सुशिक्षित तथा सुसज्जित सेना को इस तरह अनायास ही पराजित कर दिया। कारण यही था कि इस क्रान्ति के पीछे चीन की समस्त जनता थी, इसी ज्ञान ने कुओ मिन्तांग अथवा चांग की सेना को हथियार छोड़ कर भाग जाने के लिए विवश किया।

नये चीन का जन्म हुए केवल तीन-चार वर्ष हुए हैं। इतने समय में ही वहाँ युगान्तर उपस्थित हो गया है। भारत से गये प्रतिनिधि-मण्डल के नेता पं० सुन्दरलाल तथा अन्य सदस्यों ने चीन में प्रारम्भ हुए नवयुग की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनका कथन है कि तीन-चार वर्षों में वहाँ कृषि की चमत्कार-पूर्ण उन्नति हो गई है और भूख को देश से निकाल दिया गया है। जातीय चरित्र में भ्रष्टाचार,

रिश्वतखोरी, चोरबाजारी आदि दोषों को सर्वथा निर्मूल कर दिया गया है। आज चीन में न कोई वेश्या है, न वकील है, न कोई भिखमंगा और न कोई बेरोज़गार है। नया समाज बनाने के लिए प्रत्येक नागरिक में अदम्य उत्साह फूंक दिया गया है। शिक्षा प्रणाली में भी देश की आवश्यकतानुसार उचित परिवर्तन कर दिए गए हैं और नई सन्तति में राष्ट्रोन्नति के भावों को भर दिया गया है। चीन की वर्तमान सेना में शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित और सुशिक्षित पचास लाख सैनिक हैं, फिर भी चीन सेना पर सब से कम खर्च कर रहा है। यह सम्भवतः संसार की सबसे बड़ी शक्ति है। यह युगान्तर माओ-से-तुंग ने ही इतने अल्प काल में उत्पन्न किया है।

हुनान प्रान्त की चगशा राजधानी पर्वतीय प्रदेश में बसी हुई है। इसकी घाटियाँ दो वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए प्रसिद्ध है—एक चावल, दूसरे क्रान्तिकारी। चंगशा के पास दक्षिण में, दस मील की दूरी पर स्थित, शाओ-शान नाम के एक छोटे गाँव में क्रान्तिकारी माओ का १८६३ में जन्म हुआ। इसी चंगशा के प्रदेश में साम्यवादी दल के वृद्ध नेता हू-तेली और जनरल पेंग-ते-हुई का भी जन्म हुआ।

**माओ का जीवन-वृत्त**

माओ के पिता शनशेंग की उस गाँव में लगभग तीन एकड़ ज़मीन थी। वह परिवार के गुज़ारे के लिए बिलकुल अपर्याप्त थी, इसलिए शनशेंग ने सेना में नौकरी कर ली। उस समय चीन में डाका मारना एक लाभप्रद व्यवसाय था और फिर सेना में भर्ती हो कर सिपाही की वर्दी में इसे दण्डभय से मुक्त हो कर किया जा सकता था। शनशेंग ने थोड़े ही समय में काफी धन एकत्र कर लिया और एक वर्ष से पूर्व ही घर वापस आ कर दो एकड़ जमीन और खरीद ली। अब उसने ज़मीनों पर बैठ कर अनाज तथा सूअर के बच्चों को बेच कर जीवन-निर्वाह करना आरम्भ किया। थोड़ी देर के बाद ही उसने ३००० रु० बचा लिए और उस पूँजी को सूद पर देना आरम्भ किया। अब

वह निर्धन किसान न रह कर मध्यम श्रेणी का किसान कहलाने लगा। एक धनी किसान वह न बन सका।

शनशेंग ने अपने पुत्रों की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया। वह स्वयं भी उन्हें पढ़ाया करता था। उसकी यही इच्छा थी कि वे बड़े हो कर अच्छा धन कमा सकें। माओ का कथन है, 'हमारा पिता हमें उन कलाओं को सीखने का ही आग्रह करता था, जो धन पैदा करने में सहायक हो सकें।'

माओ में पिता की इस प्रवृत्ति के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। जितना ही धन शनशेंग को प्रिय था, उतना ही माओ को वह अप्रिय था। वह घर का धन, आने वाले भिखारियों में खुले हाथों बाँट देता था। एक बार जब वह पिता से दिए हुए सूअर के बच्चे को मंडी में बेच कर वापस आ रहा था, उसने उसकी सारी प्राप्त हुई कीमत मार्ग में खड़े हुए एक भिक्षुक को दे दी। पिता उसके इस कार्य पर बहुत रुष्ट हुआ। जब माओ चंगशा के एक स्कूल में पढ़ता था—पिता ने उसे एक गर्म कोट सिलवा कर भेजा। माओ ने उसे किसी अन्य निर्धन युवक को दे दिया, क्योंकि सर्दियों में वह केवल एक कमीज के अतिरिक्त, अन्य कुछ नहीं पहने होता था। बचपन की यह उदारचित्तता माओ में बड़े हो कर भी, जब वह क्रान्तिकारी नेता बन गया, वैसी ही रही। एक बार जब वह अपनी सेना के साथ किसी प्रान्त में से गुजर रहा था, उसने सड़क के एक तरफ बैठी हुई सर्दी से ठिठुरती एक वृद्धा को देखा। उसने शीघ्र ही अपना कोट उतार कर उस पर डाल दिया। ऐसी उदारताओं से माओ की सर्वप्रियता और भी अधिक बढ़ती गई।

माओ को बचपन में उपन्यास पढ़ने का बहुत शौक था। वह स्कूल में अपनी कक्षा में बैठे हुए भी, कनफ्यूशियस की धर्म-पुस्तक के नीचे किसी उपन्यास को रख कर, अध्यापक से नज़र बचा कर, उसे पढ़ता रहता था। इन्हीं उपन्यासों में उसने ऐसे नायकों का चरित्र पढ़ा जिन्होंने अपने राजाओं के विरुद्ध विद्रोह किया था। मेनशियस

के विचार भी तभी उसने पढ़े, जिनके अनुसार शासक प्रजा का सेवक माना जाता था और बुरा शासन करने की अवस्था में उसे राज्यच्युत करने का प्रजा को अधिकार था। पीछे जा कर माओ ने इस विचार को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उसे विश्वास होगया कि साधारण जनता को शासन करने अथवा उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होना चाहिए, केवल योग्य एवं सुशिक्षित व्यक्तियों को ही ऐसा अधिकार मिलना चाहिए।

माओ को कविता में भी विशेष रुचि थी। परन्तु उसने कविता को क्रान्ति का साधनमात्र बतलाया। 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त उसे युक्तिसंगत प्रतीत न होता था। वह समस्त साहित्य का उद्देश्य राष्ट्रोत्थान अथवा समाज-सुधार मानता था। कला का लक्ष्य केवल मनोरञ्जन नहीं, ऐसा मन्तव्य रखते हुए उसने कलाकारों को क्रान्ति सम्बन्धी कविता लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। शासन-सत्ता हाथ में आने पर उसने मूर्तिकला का व्यवसाय करने वालों को मूर्तियाँ न बना कर, साबुन बनाने के लिए बाधित किया, जो साधारण जनता के लिए उपयोगी वस्तु थी। माओ अपने को कलाकार कहता था—परन्तु वह कलाकार, जो समाज से कुरूपता को निकाल कर सौन्दर्य का सृजन करना चाहता था।

माओवाद चीन देश के अनुकूल समाजवाद का नाम है। माओ का विश्वास था कि चीन के समाजवाद की समस्या चीन के किसानों के संघटन करने तथा उनमें भूमि बाँट देने से ही हल हो सकती है। उसने अपने इस विश्वास के अनुसार अपने प्रान्त हुनान को संघटित किया।

**माओवाद**

और उसमें 'भूमि किसानों की है, न कि जमींदारों की' इस नारे को लगा कर किसानों को समाजवाद का अनुयायी बना लिया। मास्को के साम्यवादी नेताओं ने माओ के इस आन्दोलन से सहमति प्रकट न की। उनका कथन था कि क्रान्ति का प्रारंभ स्थान-स्थान पर बिखरे हुए

किसानों से नहीं, अपितु नगरों में केन्द्रित हुए मजदूरों से करना अधिक उचित है। माओ ने इस आदेश का कभी पालन नहीं किया और किसानों के संघटन का कार्य जारी रखा। सोवियत रूस के नेताओं ने अपनी भूल को पीछे स्वीकार किया और माना कि चीन कृषि-प्रधान देश होने से, उसमें किसानों से ही क्रान्ति का आरम्भ किया जाना आवश्यक है। इस तरह माओ ने मार्क्सवाद को चीन की विशेष अवस्थाओं के अनुसार परिणत किया और साम्यवाद को नया रूप दिया—जिसे माओवाद कहा जाने लगा। मास्को के नेताओं ने अब इस रूप को अपने ही साम्यवाद का अंग मान लिया है।

**उपसंहार**

माओ आज चीन का लौह पुरुष है। उसके सम्मुख सारी जाति नत-मस्तक है। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई आवाज़ नहीं निकाल सकता। जनता को साथ रखने के लिए, उसने रूसी साम्यवाद को कुछ धार्मिक रंग भी दे दिया है। परन्तु उसका उद्देश्य तो आर्थिक विषमता को मिटा कर वर्गहीन समाज की स्थापना करना है। उसने पिछले तीन-चार वर्षों में ही निर्धनता को देश से दूर कर दिया है और साधारण जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा कर दिया है। माओ ने चीन में ऐतिहासिक प्रवाह को बदल दिया है और प्रगति एवं समृद्धि के नवीन युग को आरम्भ किया है—जिसमें ४५ करोड़ चीन-वासियों के कल्याण का समान रूप से सम्पादन किया जा रहा है।

# ३६. क्रान्तिकारी सुभाष

**भूमिका, स्वतन्त्र भारत का जन्म, सुभाष का जीवन-वृत्त, आज़ाद हिन्द फौज, उपसंहार**

द्वितीय महायुद्ध ( १६३६-४५ ) के परिणाम-स्वरूप संसार के अनेक देशों में राजनीतिक क्रान्तियाँ हुईं। भारत में भी दासता के विरुद्ध किये जाते हुए संघर्ष में इस महायुद्ध से बहुत सहायता प्राप्त हुई। ब्रिटिश शासकों का सारा ध्यान युद्ध में शत्रुओं को जीतने में लगा हुआ था—उनकी सारी शक्ति का प्रयोग उस तरफ हो रहा था। भारत में महात्मा गान्धी द्वारा सञ्चालित सत्याग्रह, असहयोग तथा भद्र-अवज्ञा-आन्दोलन के फल-स्वरूप जनता में घोर असन्तोष फैला हुआ था और विदेशी शासकों के साथ युद्ध के किसी कार्य में सहयोग नहीं दिया जा रहा था। भारतीय सेना में भी विद्रोह की भावना प्रबुद्ध हो रही थी और भारतीय सैनिक अंग्रेज़ों द्वारा किये गये, असमानता तथा अन्याय के व्यवहार को अब अधिक देर तक सहन नहीं कर सकते थे। चारों तरफ क्रान्ति के दबे हुए अंकुर महायुद्ध की अव्यवस्थित अवस्था में फूट रहे थे।

**भूमिका**

स्वतन्त्र भारत का जन्म ऐसी ही अवस्था में हुआ। इस स्वतन्त्रता के समीप लाने में क्रान्तिकारी सुभाष का बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने महायुद्ध से उत्पन्न विदेशी शासकों की कठिनाइयों का पूरा लाभ उठाया और एक कुशल सेनानी की तरह शत्रु के विरुद्ध एक से अधिक स्थानों पर मोर्चा लगा कर उसे घुटने टेकने के लिए विवश किया। महात्मा गान्धी ने जहाँ देश के अन्दर से अहिंसात्मक उपायों द्वारा विदेशी शासकों को निकल जाने को मजबूर किया, वहाँ सुभाष ने बाहर से प्रहार करके उनका भारत में अधिक देर तक टिके रहना असम्भव बना दिया। गान्धीजी आदर्श-वादी थे, उनका विश्वास केवल सत्य तथा अहिंसा पर प्रतिष्ठित धार्मिक

**स्वतन्त्र भारत का जन्म**

साधनों पर ही था, परन्तु सुभाष यथार्थवादी थे और वे राजनीति के गुरु चाणक्य के मतानुसार शत्रु को सब सम्भव साधनों से पराजित करना अपना धर्म मानते थे। अतः उन्होंने अंग्रेज़ों के विपक्षियों से मिल कर, उनसे शस्त्रास्त्र की सहायता ले कर, विदेशों में स्थित भारत की सेनाओं को संघटित करने में तनिक भी संकोच न किया। वस्तुतः इस बढ़ते हुए सैनिक विद्रोह को देख कर ही अंग्रेज शासकों को भारत छोड़ने के लिए बाधित होना पड़ा। भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में नेताजी सुभाष का वही गौरवान्वित स्थान होगा, जो महात्मा गान्धी का।

सुभाष का जन्म श्री जानकीदास वसु के घर, जो एक सरकारी वकील थे, २३ जनवरी सन् १८९७ ई० में कटक ज़िला में हुआ। इनकी माता प्रभावती देवी एक धार्मिक हिन्दू महिला थीं। सुभाष तथा उनके अन्य ८ भाइयों तथा ६ बहनों पर इस आदर्श माता के चरित्र का गहरा प्रभाव पड़ा।

**सुभाष का जीवन-वृत्त**

सुभाष बाबू ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा एक प्रोटेस्टेंट स्कूल में पाई और दसवीं श्रेणी की परीक्षा यूनिवर्सिटी में दूसरे नम्बर पर रह कर पास की। बचपन में उनके मस्तिष्क पर स्वामी विवेकानन्द के विचारों की छाप पड़ गई और १६ वर्ष की किशोर आयु में ही घर छोड़ कर वे सचाई के मार्ग को ढूँढने के लिए निकल पड़े। बहुत खोज करने के बाद जब उन्हें ज्ञान हुआ कि सच्चे महात्मा और ऋषि बहुत कम हैं, तो वे घर वापस लौट आए और फिर अध्ययन करने में लग गए।

आप जब प्रेज़ीडेंसी कालेज में पढ़ते थे, एक योरोपियन प्रोफेसर ने एक भारतीय विद्यार्थी को थप्पड़ मारा। सुभाष बाबू इसको न देख सके और उन्होंने कालिज में हड़ताल करा दी। नतीजा यह हुआ कि उन्हें कलकत्ता यूनिवर्सिटी से दो साल के लिए निकाल दिया गया। दो वर्ष बाद स्काटिश चर्च कालिज में प्रविष्ट हो कर उन्होंने बी०ए० परीक्षा पास की।

माता-पिता ने सुभाष को आई० सी० एस० परीक्षा देने के लिए

इंग्लैंड भेजा, जिसे उन्होंने केवल आठ महीने की तैयारी के बाद सम्मान-सहित उत्तीर्ण किया और साथ ही केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से दर्शन शास्त्र की उपाधि भी प्राप्त कर ली। इंग्लैंड में रहते हुए उन्हें वहाँ के स्वतन्त्र वातावरण को देख कर और अपने देश की पराधीनता को स्मरण कर के अत्यन्त विक्षोभ हुआ। अतः वापस आने पर, उन्होंने अंग्रेज सरकार की नौकरी करने का विचार छोड़ कर स्वतन्त्रता के चलते हुए संग्राम में कूद पड़ने का निश्चय किया।

उन दिनों महात्मा गान्धी अपना असहयोग-आन्दोलन चला रहे थे। बंगाल में उस आन्दोलन का नेतृत्व श्री देशबन्धु चित्तरञ्जन के हाथ में था। सुभाष बाबू ने देशबन्धु के साथ कार्य करना आरम्भ किया। इन्हीं दिनों जलियाँवाला बाग का अमानुषिक हत्याकांड हुआ और देश में क्रोध की आग भड़क उठी। २५ दिसम्बर १६२१ को प्रिंस आफ वेल्स को भारत में आना था। महात्मा गान्धी ने घोषणा की कि जनता उत्सव न मना कर, इस उपलक्ष्य में हड़ताल करे। सुभाष बाबू ने इस हड़ताल को बंगाल में संघटित करने के लिए विशेष उत्साह से कार्य किया। उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और पहली बार आठ महीने की सज़ा हुई।

सन् १६२४ में स्वराज्य-दल ने कलकत्ता कार्पोरेशन के चुनाव में भाग लिया। श्री सुभाष भी निर्वाचित हुए। उन्हें १५०० रु० मासिक वेतन पर चीफ एक्जीक्यूटिव आफिसर नियत किया गया। परन्तु पाँच मास के बाद ही, उन्हें अक्तूबर १६२४ में नज़रबन्द कर लिया गया और मांडले भेज दिया गया। वहाँ बीमार रहने के कारण, उन्हें १६२७ में बिना शर्त छोड़ दिया गया। १६३० तथा १६३२ में फिर उन्हें जेल में डाल दिया गया। जेल से छूट कर वे स्वास्थ्य-लाभ के लिए योरोप चले गए और वहाँ सन् १६३६ तक रहे।

१६ फरवरी १६३८ को आप हरिपुरा कांग्रेस-अधिवेशन के सभापति निर्वाचित हुए। १६३६ में वे दूसरी बार त्रिपुरी में कांग्रेस के अधिवेशन

में बहुमत द्वारा सभापति चुने गए, परन्तु महात्मा गान्धी से मतभेद होने के कारण, उन्हें शीघ्र ही त्यागपत्र देना पड़ा। १६३६ में उन्होंने कांग्रेस में एक पृथक् फारवर्ड ब्लाक की स्थापना की, जिसका उद्देश्य कांग्रेस की नीति को अग्रगामी बनाना था।

द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने पर उन्होंने भारत से बाहर जा कर अंग्रेजों के शत्रु-राष्ट्रों से मिल कर स्वतन्त्रता-संग्राम को जारी रखने का निश्चय किया। जनवरी १६४१ में उन्होंने अपने कलकत्ता के निवासस्थान पर मौन धारण किया और सबसे मिलना बन्द कर दिया। दो महीनों तक दाढ़ी को बढ़ा लिया और एक दिन चुपचाप पेशावर के लिए रवाना हो गए। मौलवी के वेश में उन्होंने अपना नाम जियाउद्दीन बतलाया। उन्होंने अपने इस संस्मरण का इस तरह उल्लेख किया है—
"पठानी वेश में मैं रहमतखाँ और एक अन्य मित्र के साथ, मोटर में बैठ कर, पेशावर से चल दिया। नगर से निकल कर हम उस सड़क पर हो लिए, जो जमरूद को जाती थी। मार्ग में जब किसी ने बातचीत करने का प्रयत्न किया, तो रहमतखाँ ने मुझे गूँगा और बहरा बता कर उसे मौन कर दिया।"

काबुल पहुँच कर सुभाष रूस और इटली के राजदूतों से मिले। उनके द्वारा यात्रा का प्रबन्ध हो जाने पर, पहले वे मास्को गए और वहाँ से बर्लिन ? वहाँ वे हिटलर से मिले। उनका हिटलर पर इतना गहरा असर पड़ा कि उसने इन्हें सम्मान-सहित 'भारत के फ्यूहरर' की पदवी से सुशोभित किया। सुभाष बाबू ने जर्मनी में उन हिन्दुस्तानियों में, जो वहाँ गिरफ्तार थे, विद्रोह की भावना भर दी और आजाद हिन्द फौज की उनमें नींव रखी। हिटलर ने एक बार भाषण देते हुए कहा कि "मैं तो केवल ८ करोड़ जर्मनों का नेता हूँ, परन्तु सुभाष ४० करोड़ भारतीयों के नेता हैं। मैं और मेरे जर्मन आपको नमस्कार करते हैं।"

श्री सुभाष २० जून १६४३ को पनडुब्बी द्वारा जापान पहुँचे।

तोजो आदि सैनिक नेताओं ने उनका हार्दिक स्वागत किया। जापान से वे सिंगापुर पहुँचे। वहाँ वे आजाद हिन्द लीग के सभापति रासबिहारी बोस से मिले। एक बड़े सम्मेलन में श्री रासबिहारी बोस ने यह घोषणा की कि "मैं संघ का सभापतित्व 'नेताजी' श्री सुभाषचन्द्र बोस को सौंपता हूँ।" इस घोषणा से उपस्थित लोगों में बड़ा उत्साह फैल गया।

२१ अक्तूबर १९४३ को आज़ाद हिन्द अस्थायी सरकार तथा आजाद हिन्द फौज की स्थापना हुई। अस्थायी सरकार के मन्त्रिमंडल की भी घोषणा की गई। श्री सुभाष स्वयं उसमें भारत के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और विदेशी विभाग के मंत्री नियत हुए।

प्रत्येक व्यक्ति, जो आज़ाद हिन्द फौज में भर्ती होता था यह शपथ लेता था, "मैं अपना तन मन धन सब कुछ स्वतन्त्रता के लिए बलिदान करता हूँ। मैं भारत की आज़ादी के लिए, जान की पर्वाह न करूँगा और लगातार काम करता चला जाऊँगा।" इस फौज में पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी सम्मिलित हुईं, जिनके लिए नेताजी ने रानी झाँसी रेजीमेंट की स्थापना की। इसकी नायिका कुमारी लक्ष्मी स्वामीनाथन् थी, जो एक वीरांगना थी। ये स्त्रियाँ केवल हस्पतालों में घायलों की चिकित्सा का कार्य ही न करती थीं, अपितु लड़ाई के मैदान में लड़ने के लिए भी जाती थीं। कुमारी लक्ष्मी ने नेताजी को विश्वास दिलाया कि उनके अन्दर मातृभूमि के लिए पुरुषों से भी अधिक उत्साह, जोश और बहादुरी है।

**आजाद हिन्द फौज**

आज़ाद हिन्द फौज के सिपाही, आज़ादी के दीवाने बने हुए, नेताजी के नेतृत्व में निम्नलिखित गीत गाते हुए, अपने देश को दासता से मुक्त कराने के लिए आगे बढ़ने लगे :—

कदम कदम बढ़ाए जा, खुशी के गीत गाए जा।
यह ज़िन्दगी है कौम की, तू कौम पै लुटाए जा॥

तू शेरेहिन्द आगे बढ़, मरने से तू तनिक न डर।
आसमान तक उठा के सर, जोशे वतन बढ़ाए जा॥

तेरी हिम्मत बढ़ती रहे, खुदा तेरी सुनता रहे।
जो सामने तेरे अड़े, तू खाक में मिलाए जा ॥
'चलो दिल्ली' पुकार के, कौमी निशाँ सँभाल के
लाल किले में गाड़ के, लहराए जा, लहराए जा ॥

इन वीरों ने इम्फाल के मोर्चे पर टूटी-फूटी बन्दूकों से लड़ाई लड़ी और घास-फूस खा कर दिन व्यतीत किए।

मई १६४५ में नागासाकी और हिरोशीमा पर परमाणु बम गिरने के बाद, जब जापान ने महायुद्ध में हार स्वीकार कर ली, तो आज़ाद हिन्द फौज पर भी विपत्ति के पहाड़ टूट पड़े। नेताजी की सब आशाओं पर पानी फिर गया। अंग्रेज़ों ने आज़ाद हिन्द सरकार द्वारा खोले हुए बैंक तथा उसकी समस्त सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। फौजियों की पकड़-धकड़ शुरू हो गई। परन्तु नेताजी ने अन्त तक उन्हें उत्साह से भरपूर रखा और अपने अपने मोर्चे पर डटे रहने को कहा। स्वयं वे सेना की रसद का प्रबन्ध करने के लिए हवाई जहाज से टोकियो की तरफ रवाना हुए।

१६ अगस्त के प्रातः १०॥ बजे नेताजी सिंगापुर से चले और ३॥ बजे दुपहर बाद, बैंकोक पहुँचे। १७ अगस्त को सेगाँव ठहर कर उनका हवाई जहाज़ २ बजे दोपहर ताईहोकू पहुँचा। आधा घंटा विश्राम करने के बाद जहाज अभी १२० फुट ऊपर उठा था कि उसका एक पंखा टूट गया और नीचे आते आते उसको आग लग गई। पेट्रोल की टंकी नेताजी के सिर पर ही थी। जलते हुए कपड़ों के साथ वे हवाई जहाज से बाहर निकले। कर्नल हबीबुर रहमान, जो उनके साथ थे, अपने जलते कपड़ों की पर्वाह न कर के उनकी आग बुझाने में लग गये, परन्तु नेताजी की अवस्था बहुत बिगड़ चुकी थी। उन्हें शीघ्र ही ताईहोकू के सरकारी हस्पताल में पहुँचाया गया और वहीं १८ अगस्त को, ६ बजे रात्रि के समय उनका देहान्त हो गया। मरने से पूर्व वे सर्वथा सचेत थे। उन्होंने अपनी बातचीत में कर्नल हबीबुर रहमान से

केवल भारत की स्वतन्त्रता की ही चर्चा की। जब उन्होंने मृत्यु को बहुत समीप पहुँचा हुआ देखा, तो निम्नलिखित सन्देश कर्नल हबीबुर रहमान द्वारा अपने देशवासियों को भेजाः—'मैंने अन्त समय तक देश की आजादी के लिए युद्ध किया है और उसी प्रयत्न में मैं अब अपना जीवन दे रहा हूँ। देशवासियो! इस युद्ध को जारी रखो। बहुत शीघ्र भारत स्वतन्त्र होगा। आजाद हिन्द जिन्दाबाद।" नेता जी का यह मृत्यु-सन्देश सचमुच ही शीघ्र पूरा हुआ।

ताईहोकू में नेताजी के शरीर का दाहसंस्कार किया गया। उनकी भस्म को ६ सितम्बर १६४५ के दिन, टोकियो में लाया गया और रंकोजी के मन्दिर में रख दिया गया, जहाँ वह अभी तक पड़ी हुई है। एक बौद्ध भिक्षु इस भस्म की अत्यन्त सम्मान-पूर्वक सुरक्षा कर रहे हैं। नेताजी की अमर कीर्ति के साथ उनकी कीर्ति भी अमर रहेगी। उन जापानी बौद्ध भिक्षु के नाम का अर्थ भी 'पूर्ण-चन्द्र-कीर्ति' है।

**उपसंहार**

क्रान्तिकारियों का मापदंड साध्य की सिद्धि नहीं होता, परन्तु साधन की अग्नि को चिर-प्रज्वलित रखना होता है। यही क्रान्ति के सच्चे पुजारी सुभाष ने किया। उसके हृदय में स्वतन्त्रता के लिए जो तड़प और व्याकुलता थी, वह शायद ही किसी अन्य सेनानी में थी। इसीलिए तो उसने अपनी जान की बाजी तक लगा दी और स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर अपने को न्योछावर कर दिया। अन्तिम श्वास तक उसकी यही कामना थी कि भारत दासता की बेड़ियों से मुक्त हो और स्वतन्त्र हो कर उन्नति-मार्ग का पथगामी बने। उसके प्रयत्नों तथा बलिदान से आज हमारा भारत स्वतन्त्र हो चुका है। वही क्रान्तिकारी हमारे स्वतन्त्र गणराज्य का प्रथम राष्ट्रपति अथवा प्रधानमन्त्री बनने योग्य था। उसने अवश्य ही स्वतन्त्रता के बाद एक अन्य आर्थिक क्रान्ति को उत्पन्न कर दिया होता, जिससे देश में सामाजिक न्याय और समानता की स्थापना हो चुकी होती। उसके हृदय की अग्नि—विषमता, शोषण एवं अमानुषिकता

को भस्म किए बिना कदापि शान्त न होती । उसकी अधीरता उसे सामाजिक तथा आर्थिक अत्याचार को समाप्त किए बिना, चैन से न बैठने देती । वह क्या करता और क्या न करता यह सब कल्पना के गर्भ में ही लीन है, परन्तु यह निश्चित है कि उसकी क्रान्तिकारिता उसे 'धीरे-धीरे सुधार करने की' प्रवृत्ति का घोर विरोधी बना देती और विकास के स्थान पर क्रान्ति को ही समाज-सुधार का एकमात्र साधन बनाने का पक्षपाती बनाती । क्या ही अच्छा हो—जैसा कि अभी तक कइयों का विश्वास है—नेताजी कहीं पर जीवित हों और वे अपने इस प्रिय देश की स्वतन्त्रता को सुरक्षित करने और सामान्य जन को उसका वास्तविक सुख प्राप्त कराने के लिए, फिर हमारे बीच में उपस्थित हो सकें और हमारा नेतृत्व कर सकें !

---

## ४०. भारत में सिंचाई की योजनाएँ

### भूमिका, पञ्चवर्षीय योजना में सिंचाई पर व्यय, सिंचाई की मुख्य योजनाएँ, भावी योजनाएँ, उपसंहार

किसी देश की कृषि की समृद्धि वहाँ की सिंचाई-योजनाओं पर आश्रित होती है । इस आधारभूत सत्य को स्वीकार करते हुए भारतीय योजना-कमीशन ने पञ्चवर्षीय योजना में लगभग १०२ सिंचाई-योजनाओं की व्यवस्था की है । पञ्चवर्षीय योजना पर व्यय होने वाले कुल २०६८.७८ करोड़ रुपयों में से ५६१.४१ करोड़ रुपया सिंचाई-योजनाओं पर ही व्यय किया जायगा । ये योजनाएँ संसार की बड़ी-बड़ी योजनाओं से तुलना करेंगी । इनसे ८८ लाख एकड़ भूमि को सींचने का प्रबन्ध किया जायगा और १० लाख किलोवाट बिजली की शक्ति को उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए पैदा किया जायगा । इतना तो पाँच वर्षों में ही हो जाएगा । जब ये योजनाएँ सर्वथा पूर्ण हो जायेंगी, तब उनसे १६० लाख एकड़

**भूमिका**

जमीन की सिंचाई तथा लगभग १६ लाख किलोवाट बिजली के उत्पन्न होने की आशा की जाती है।

भारतवर्ष की भूमि पर चलने वाली नदियों में इतना पानी बहता है कि अनुमान लगाया गया है कि वह भारत की कुल सतह को दो फुट तक डुबो सकता है। परन्तु इतने पानी का केवल २ इञ्च ही अन्न की तथा बिजली की उत्पत्ति के लिए अब तक प्रयोग में लाया जा सका है। इस अनुमान में हिमालय की बर्फों से निकलने वाली तथा निरन्तर चलने वाली नदियाँ भी सम्मिलित हैं, परन्तु भूमि के नीचे विद्यमान जल के वे साधन सम्मिलित नहीं, जो बहुत व्यय-साध्य होने के कारण साधारणतया प्रयोग में नहीं लाये जा सकते।

भारत के प्राकृतिक जल-साधन सारी भूमि पर प्रायः समान रूप से बँटे हुए हैं। इन साधनों का पूर्णतया लाभ उठाने पर आगामी १५-२० वर्षों में सींची हुई भूमि के क्षेत्रफल को दुगना किया जा सकेगा और ३०-४० लाख वाट बिजली की शक्ति को उत्पन्न किया जा सकेगा। इन साधनों से अनाज की उत्पत्ति में इतनी वृद्धि होगी कि न केवल वर्तमान कमी ही पूरी हो जायगी, अपितु निरन्तर बढ़ती हुई आबादी का पेट भरने के लिए भी वह पर्याप्त होगी।

**पञ्चवर्षीय योजना में सिंचाई पर व्यय**

निम्नलिखित दो तालिकाओं से स्पष्ट होगा कि मुख्य-मुख्य नहर-सिंचाई की योजनाओं से आगामी पाँच वर्षों में तथा उनके पूर्ण हो जाने पर कुल कितना व्यय होगा और उनसे क्या लाभ होगा। आशा की जाती है कि इनसे देश की समृद्धि पर पर्याप्त प्रभाव पड़ेगा और साधारण जनता के जीवन-स्तर को काफी मात्रा में ऊँचा किया जा सकेगा :—

### तालिका १—पञ्चवर्षीय योजना में सिंचाई-योजनाओं पर व्यय तथा उनसे लाभ[1]

| योजना का नाम | व्यय १९५१—५६ लाख | लाभ १९५६ में | |
|---|---|---|---|
| | | सिंचाई-एकड़ | बिजली-किलोवाट |
| **केन्द्रीय सरकार** | | | |
| १. भाकरा-नांगल | ९९८७ | १२,९३,००० | ९६,००० |
| २. दामोदर घाटी | ६२६५ | ४,७०,००० | १,९४,००० |
| ३. हीरा कुण्ड | ६१२४ | ८०,००,००० | ७५,००० |
| **राज्य सरकार** | | | |
| ४. ककरापार नहर-योजना ( बम्बई ) | ५६३ | ३,९१,००० | ६,५२,००० |
| ५. तुङ्गभद्रा ( मद्रास-हैदराबाद ) | ३३१४ | ३,१५,००० | ३०,००० |
| ६. मच्छकुण्ड ( मद्रास-उड़ीसा ) | ११५२ | | ५२,००० |
| ७. मयूराक्षी ( पश्चिम बंगाल ) | १२४४ | ६,००,००० | ४,००० |
| ८. लोयर भवानी ( मद्रास ) | ४९० | १,३०,००० | |
| ९. घट-प्रभा ( बम्बई ) | ४४५ | ४५,००० | |
| १०. गङ्गापुर ( बम्बई ) | २३४ | १५,००० | ४५,००० |
| ११. अन्य | २६३२३ | ४७,४२,००० | ८,२३,८०४ |

## तालिका २—सिंचाई योजनाओं के पूर्ण हो जाने पर व्यय तथा लाभ

| योजना का नाम | कुल व्यय लाख | कुल लाभ | |
|---|---|---|---|
| | | सिंचाई—एकड़ | बिजली—किलोवाट |
| **केन्द्रीय सरकार** | | | |
| १. भाकरा नांगल | १५६०० | ३४,२४,००० | ५,१७,००० |
| २. दामोदर घाटी | ७७८० | १३,२६,००० | २,७४,००० |
| ३. हीराकुंड | ९२०८ | १९,३०,००० | २,६८,००० |
| **राज्य सरकार** | | | |
| ४. ककरापार नहर-योजना | ६२६ | ६,५२,००० | |
| ५. तुङ्गभद्रा | ४९६८ | ७,००,००० | ६०,००० |
| ६. मचकुण्ड | १९९५ | | १,०३,००० |
| ७. मयूराक्षी | १५५० | ६,००,००० | ४,००० |
| ८. लोयर भवानी | ९०७ | २,०७,००० | |
| ९. घट-प्रभा | ५४५ | १,००,००० | |
| १०. गङ्गापुर | ३३४ | ४५,००० | |
| ११. अन्य | ३४७५३ | ७६,१५,००० | ७,३८,०५४ |

भाकरा-नांगल सब से बड़ी योजना है। इसमें रोपड़ से पचास मील ऊपर सतलुज नदी पर, भाकरा के पास ६८० फीट ऊँचा बाँध बनाया जाएगा, जो संसार का सबसे ऊँचा बाँध होगा। एक और बाँध आठ मील नीचे नांगल के पास बनेगा, जहाँ दो बिजलीघर भी तैयार किए जाएँगे।

**सिंचाई की मुख्य योजनाएँ**

इन दोनों बाँधों से नहरें भी निकाली जाएँगी जो पंजाब, पटियाला और पूर्वी पंजाब रियासत संघ, राजस्थान तथा हिमाचल राज्यों में लगभग ३४ लाख एकड़ ज़मीन की सिंचाई करेंगी। नांगल बाँध तो लगभग बन भी चुका है। इसके बिजली घर तैयार हो रहे हैं। इनसे १,४४,००० किलोवाट बिजली पैदा की जाएगी। मार्च १६५४ से ये बिजलीघर चालू हो जाएँगे। पंजाब के अतिरिक्त देहली में भी इसी नांगल-योजना से बिजली पहुँचाई जाएगी। नांगल से देहली तक सारे मार्ग का निरीक्षण किया जा चुका है और लाइन लगाने का प्रबन्ध किया जा रहा है। नहरों की खुदाई भी तेज़ी से हो रही है और निश्चित समय से पूर्व ही उनके प्रयोग में आ जाने की सम्भावना है।

दूसरी बड़ी योजना दामोदर घाटी की है। इसकी आवश्यकता अधिकतया बाढ़ों को नियन्त्रण करने के लिए हुई। दामोदर नदी के किनारे बाढ़ आ जाने पर टूट जाते हैं और आस-पास के नगरों और ग्रामों को हानि पहुँचाते हैं। अब बाँध तैयार करके, बाढ़ के सब पानी को अच्छे उपयोग में लाया जाएगा। स्थान-स्थान पर झीलें बना कर पानी का संग्रह किया जाएगा और उनसे नहरें निकाल कर सिंचाई का प्रबन्ध किया जाएगा। बिहार तथा पश्चिमी बंगाल को इस योजना से बहुत लाभ होगा। पञ्चवर्षीय योजना में अभी दामोदर नदी पर चार बाँध बनाने का व्यय स्वीकार किया गया है। झीलों में २५ लाख एकड़ फुट पानी जमा करने का इन्तजाम होगा। मैथौन और पञ्चेत नामक स्थानों पर बाढ़ रोकने का विशेष आयोजन किया जाएगा। चारों बाँधों पर बिजली पैदा की जाएगी—

जो लगभग १,२४,००० किलोवाट होगी। दुर्गापुर के पास कई नहरें निकाली जाएँगी, जो पश्चिम बंगाल के १०,२६,००० एकड़ खरीफ फसल की जमीनों को तथा ३,००,००० एकड़ रबी फसल की जमीनों को सींचेगी। नहरों से जलमार्ग का भी काम लिया जाएगा। रानीगंज से कोयला कलकत्ता तक जहाजों द्वारा पहुँचाया जा सकेगा।

तीसरा बड़ा बाँध हीराकुण्ड का होगा। इससे महानदी घाटी का विकास किया जाएगा। लगभग १६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी और दो लाख किलोवाट बिजली पैदा होगी। यह बाँध १६५ फीट ऊँचा होगा। इसके पीछे वाली झील ६७ लाख एकड़ फुट पानी संग्रह करने के योग्य बनाई जाएगी। १६४८ में इस योजना का आरम्भ हुआ और इसका काफी भाग अब पूरा हो चुका है। महानदी पर एक बड़ा रेल का पुल तैयार हो चुका है और एक बिजली घर भी बन चुका है।

ककरापार योजना तापी नदी पर चल रही है। इससे ८५० मील लम्बी नहरें बम्बई के सूरत जिले में ६ लाख एकड़ जमीनों को सींचेंगी। इनके परिणाम स्वरूप १,६०,००० टन अनाज तथा १६,००० टन कपास अधिक उत्पन्न होगी। इस योजना पर लगभग ६ करोड़ रुपया व्यय होगा।

घटप्रभा नदी की योजना बम्बई के बेलगाम जिले की सिंचाई का कार्य करेगी। इसका आरम्भ १६४६ में किया गया था और १६५६ में पूर्ण हो जाने पर, इसके द्वारा एक लाख एकड़ जमीन को लाभ पहुँचेगा।

गंगापुर योजना में गोदावरी नदी पर बाँध बनाया जाएगा, जो बम्बई राज्य में नासिक से लगभग ८ मील पश्चिम की तरफ होगा। यह १४० फुट ऊँचा होगा और इसकी झील में ७२,००० लाख घन-फुट पानी संग्रह किया जा सकेगा। १६५५-५६ में इस योजना को पूरा कर लिया जाएगा। इसका लगभग ६०% प्रतिशत कार्य समाप्त हो चुका है।

मयूराक्षी योजना पश्चिमी बंगाल में सूरी नगर के समीप तिलपाड़ा स्थान पर चल रही है। यहाँ से दो नहरें निकाली गई हैं जो ६,००,००० एकड़ जमीन को सींचने का काम करेंगी। मयूराक्षी नदी के सब बाँध बन जाने पर खरीफ फसल की उत्पत्ति आगे से दुगुनी हो जाएगी।

तुंगभद्रा योजना मद्रास तथा हैदराबाद सरकारों के सम्मिलित प्रयत्नों से पूर्ण की जाएगी। इसमें १६० फुट और ८,००० फुट लम्बा बाँध तुंगभद्रा नदी पर बनाया जाएगा। इससे २२५ मील लम्बी एक नहर मद्रास में जमीनों की सिंचाई करेगी और दूसरी १२७ मील लम्बी नहर हैदराबाद राज्य में जाएगी। इस योजना की पूर्ति शीघ्रता से की जा रही है और बाँध का दो तिहाई भाग पूर्ण हो चुका है। लगभग २०० मील नहरों का भी निर्माण हो चुका है। १९५४ के अन्त तक यह योजना तैयार हो कर कार्य करना आरम्भ कर देगी।

मचकुण्ड योजना में १३४ फुट ऊँचा और १,३०० फुट लम्बा बाँध बन रहा है। मचकुण्ड नदी का पानी झील में रोक कर उससे नहरें निकाली जा रही हैं, जो मद्रास तथा उड़ीसा की कई लाख एकड़ जमीनों की सिंचाई करेंगी। इसके अतिरिक्त बाँध पर बनाए गए बिजलीघरों से १,०३,५०० किलोवाट बिजली पैदा होगी। १९४७ में इस योजना को आरम्भ किया गया था और १९५३ में ही यह पूरी हो जाएगी।

मद्रास में कावेरी नदी की उपनदी भवानी पर २०० फुट ऊँचा और १५०० फुट लम्बा बाँध अपनी नींवों पर खड़ा हो चुका है। इससे १२० मील लम्बी नहर निकाली जाएगी, जो लगभग २,००,००० एकड़ जमीन की सींचेगी और १०,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न करेगी।

उपर्युक्त योजनाओं के अतिरिक्त देश की आर्थिक अवस्था को उन्नत करने के लिए कई अन्य योजनाओं की भी खोज की गई है।

**भावी योजनाएँ**

परन्तु इनका आरम्भ तभी होगा, जब उचित धन की व्यवस्था हो जाएगी। इनमें कोसी, कृष्णा,

चम्बल, कोयना तथा उकाई की योजनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

कोसी योजना पर लगभग ६६ करोड़ रुपया व्यय होगा और नैपाल तथा बिहार राज्य को इससे लाभ पहुँचेगा । इसके द्वारा तीन लाख टन चावल तथा सात लाख टन अन्य पदार्थों की उत्पत्ति हो सकेगी और ६०,००० किलोवाट बिजली भी पैदा हो सकेगी। इस योजना में छत्रा से ६ मील नीचे नदी पर १२० फुट ऊँचा बाँध बाँधा जाएगा।

चम्बल योजना को पूरा करने में उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा मध्य भारत सरकारों का परस्पर सहयोग आवश्यक होगा। राजस्थान में कोटा के पास चम्बल नदी पर बाँध बनाया जाएगा और मध्य भारत में गान्धी सागर बाँध तैयार किया जाएगा। इस योजना पर ४८ करोड़ रुपया व्यय होगा और १२ लाख एकड़ जमीन की सिंचाई तथा १ लाख किलोवाट बिजली की उत्पत्ति होगी।

पश्चिमी घाट पर कृष्णा नदी की योजना पर ३६ करोड़ रुपए का व्यय अनुमान किया गया है। इस योजना द्वारा बिजली को बम्बई तक पहुँचाया जाएगा। कोयना और उकाई की छोटी योजनाएँ गुजरात में चालू की जाएँगी, जो ककरापार योजना से १६ मील की दूरी पर होंगी। इन से ३ लाख किलोवाट बिजली की उत्पत्ति होगी और ५ लाख एकड़ जमीन की सिंचाई की जाएगी।

इन सब योजनाओं की उपयोगिता को बढ़ाने के लिए योजना-कमीशन ने ४० लाख रुपये का व्यय इस कार्य के लिए स्वीकार किया है कि निरन्तर खोज जारी रखी जाए और एक योजना की समाप्ति पर दूसरी योजना का आरम्भ कर दिया जाए। नर्मदा, साबरमती आदि अनेक नदियों का अनुसन्धान किया भी गया है, जिस से अनेक उपयोगी परिणाम निकलने की सम्भावना है।

**उपसंहार**

पञ्चवर्षीय योजना में कृषि को उन्नत करने के लिए नहर-सिंचाई की योजनाओं पर ५६१ करोड़ रुपया व्यय करने के अतिरिक्त ३६१ करोड़

रुपया और व्यय करने की व्यवस्था की गई है जो वैज्ञानिक उपकरणों, उत्तम खाद, बीज आदि की उपलब्धि द्वारा भारत के तीस करोड़ किसानों की आर्थिक स्थिति को उन्नत करने में सहायक होगा। उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए जहाँ केवल १७३ करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई है, वहाँ कृषि की उन्नति के लिए कुल ६२२ करोड़ रुपये का व्यय स्वीकार गया है। यह उचित ही है, कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार का ध्यान ग्राम-वासियों की तरफ जाए, जिन्हें विदेशी राज्य में सर्वथा उपेक्षित रखा गया। इसके अतिरिक्त, प्रतिवर्ष पचास लाख की संख्या में बढ़ती हुई आबादी को अन्न पहुँचाने के लिए भी कृषि तथा नहर-सिंचाई योजनाओं की तरफ विशेष ध्यान दिया जाना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि ऐसा किए बिना, जाति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। आशा है, पञ्चवर्षीय योजना सफलता-पूर्वक पूर्ण होगी और देश समृद्धि तथा सम्पन्नता के मार्ग पर अग्रसर होगा।

---